प्रकाशक

मुनि-विनयसागर साहित्याचार्य,

[illegible]-सुमति-सदन, कोटा.

(राजस्थान)

मुद्रक—

श्री उम्मेद प्रेस,

कोटा (राज०)

जिन महामहिमेन्द्र महाराव श्री भीमसिंह जी ने अपने
राज्य की सहर्ष आहुति देकर देश–सेवा–यज्ञ को
सुसमृद्ध करके भी बदले में स्वयं कुछ भी न
चाहा, उन निरभिमान, निःस्पृह एवं त्यागी
तपस्वी को 'भारतीय समाज शास्त्र'
का यह ग्रन्थ सस्नेह और
सादर समर्पित है ।

जिसके प्रताप बल से,

सम्यक सुखी सुशासित,

कोटा-प्रजा अभय थी,

ठग चोर से अत्रासित;

अम्लान अम्बुज-श्री

जिन त्यागमूर्ति नृप के,

मुख पर विराजती है

निज राज्य दान करके;

अर्पण किया जिन्होंने

सुख मातृ-भूमि के हित

औदार्य-मूर्ति उनको

यह ग्रन्थ है समर्पित ।





प्रकाशक की ओर से—

इस ग्रन्थ के इस भाग को प्रकाशित करते हुये मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है। आज ऐसे ग्रन्थों की बड़ी आवश्यकता है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के चकाचौंध में हमारी दृष्टि विकृत हो गई जान पड़ती है। संभव है कि हमारी पुरानी रूढ़ियों और परम्पराओं में से कुछ इतनी गल गई हों कि उनको बिना छोड़े काम न चले, परन्तु हमारे पुरातन का जिस तेजी और बेरहमी से आज ध्वंस हो रहा है उसे देखकर तो यही मालूम होता है कि शीघ्र ही हिन्दुस्तान 'भारत' हो जाने पर भी 'योरोप' होकर के रहेगा। मुझे भय है कि कहीं इस जल्दबाजी के लिये हमें आगे चलकर पछताना न पड़े।

अतः इस ध्वंस-कार्य करते हुये हमें कुछ ठहर कर सोचने की आवश्यकता है। हमें देखना है कि हमारी जो समाज-व्यवस्था युग-युगान्तरों के थपेड़ों को सहकर भी बनी रही उसमें ऐसे कौन से सुदृढ़ तत्त्व हैं जो हमारे लिये ही क्यों सारे विश्व के लिये भी ग्राह्य हो सकते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ के तीन भागों में यही प्रयत्न बड़े मौलिक ढँग से किया गया है। जो लोग सामाजिक दर्शन के प्रत्येक प्रश्न के लिये योरोप का ही मुख ताकने के अभ्यस्त हों, उनको यह ग्रन्थ आद्योपान्त अवश्य पढ़ना चाहिये, क्योंकि उन्हें जहाँ इस ग्रन्थ में उनके पाश्चात्य गुरुओं की सम्यक् और उदार आलोचना मिलेगी वहाँ वह अमूल्य मानसिक भोजन भी मिलेगा जो वेद, वर्द्धमान तथा बुद्ध की परम्पराओं में प्रस्फुटित

हुआ है और जिसके द्वारा आधुनिक सभ्यता के गंभीर प्रश्नों को सुलझाया जा सकता है।

मुझे खेद है कि अर्थाभाव से ग्रंथ के तीनों भाग अभी प्रकाशित नहीं किये जा सके; परन्तु मैं आशा करता हूँ कि विद्वन्मण्डली इसका समुचित स्वागत करके समाज को हमारी सहायता के लिये प्रेरित करेगी जिससे हम शेष दो भागों को शीघ्र ही पाठकों के सामने रख सकेंगे।

ता० २५-११-५२ — प्रकाशक

कोटा.



अपनी बात



प्रस्तुत पुस्तक समाजशास्त्र पर लिखी गई अब तक की सभी पुस्तकों से अलग सी जान पड़ेगी। अब तक जो पुस्तकें इस विषय पर लिखी गई है उनका दृष्टिकोण प्रायः भौतिकवादी ही रहा है, परन्तु यहाँ पर समाजशास्त्र को आध्यात्मिक दृष्टि से देखा गया है। दूसरी विशेषता यह है कि इसमें उन समाज शास्त्रीय सिद्धान्तों का भी यथासंभव समावेश किया गया है जो भारतीय ऋषियों एवं मुनियों के मस्तिष्क से अद्भुत हुये थे। यथासंभव इन सिद्धान्तों के क्रियात्मक रूप तथा उस पर आश्रित एवं उससे अनुप्राणित समाज के क्रमिक विकास को भी दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। पहले विचार था कि यह सब बातें एक ही पुस्तक में संक्षेप में रख दी जायँ, परन्तु अंत में यह अधिक सुविधाजनक प्रतीत हुआ कि उसे तीन भागों में प्रकाशित किया जाय :—

(१) भारतीय समाजशास्त्र : मूलाधार।
(२) भारतीय समाजशास्त्र : क्रियात्मक रूप।
(३) भारतीय समाजशास्त्र : वर्तमान समाज और उसकी समस्यायें।

इस पुस्तक की एक लम्बी कहानी है। जो आज स्मृति-पटल पर आकर मेरे नेत्रों को सजलकर रही है। १९३७ में मेरे सहपाठी स्वर्गीय कृष्णकुमार एम० ए० ने मेरे एक अंग्रेजी लेख "Gandhism is a Historical Necessity" और इसी नाम के ग्रंथ की रूपरेखा को देखकर मुझे हर्षातिरेक से 'Sociologist' (समाजशास्त्री) कहा था और वे मुझे पकड़कर

लेख सहित प्रोफेसर मुकुटबिहारीलाल, वर्तमान अध्यक्ष, राजनीति शास्त्र विभाग काशी विश्वविद्यालय के पास ले गये थे। उसे देख कर प्रोफेसर साहब ने मुझे पुस्तक लिखने के लिये उत्साहित किया था। उस समय से उस मित्र ने और मेरे बालसखा स्वर्गीय डा० रामकिशोर गुप्त एम० ए०, पी० एच० डी० ने न मालूम कितनी बार मुझे यह कार्य करने के लिये प्रेरित किया; परन्तु खेद है कि मैं उनकी वह इच्छा पूरी नहीं कर सका। इस पुस्तक में यद्यपि वह विषय पूरा नहीं, परन्तु दृष्टिकोण वही है और और मुझे पूरा विश्वास है कि यदि वे दोनों होते तो उन्हें आज बड़ी प्रसन्नता होती।

जब मैं डी० लिट० के लिये शोध-कार्य कर रहा था, तो 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' में मेरा एक लेख 'हिन्दू संस्कृति में ऋण की कल्पना" प्रकाशित हुआ था। उसे देखकर, मेरे सम्माननीय गुरुवर प्रो०मुकुटबिहारीलाल तथा पं०रामनारायण मिश्र ने मुझे आदेश दिया था कि मैं संस्कृत साहित्य में से इस प्रकार के विचारों का संकलन करके प्रकाशित करूँ। इसी काल में, मेरे मित्र श्री पुरुषोत्तमदास खत्री एम० ए० और पं० राजाराम जी शास्त्री ने यह प्रेरणा की थी कि मैं वैदिक काल से लेकर अब तक के भारतीय समाज का विकास दिखलाते हुये एक पुस्तक लिखूँ। मैंने सभी महानुभावों को स्वीकारात्मक उत्तर ही दिया, परन्तु मुझे खेद है कि मैं उक्त आदेशों आग्रहों और प्रेरणाओं के अनुसार कार्य नहीं कर सका। प्रस्तुत पुस्तक में जो प्रयत्न किया गया है, उससे संभवतः मैं सभी को मुंह दिखा सकने का थोड़ा बहुत अधिकारी हो जाऊँगा।

इतना वचन बद्ध होते हुये भी, मैं अभी तक जो कुछ भी न कर सका उसका मुख्य कारण है मेरा आलस्य जिससे मैं बुरी तरह आक्रांत रहता हूँ। इस आक्रांता से जब तब छुटकारा

दिलवाने वाले हैं मेरे अभिन्न बन्धु श्री अशोक जी एम० ए० तथा प्रो० चन्द्रप्रकाश सिंह एम० ए० जिनका ऋण मेरे रोम रोम पर है। श्री अशोक जी ने मुझसे एक बार समाजशास्त्र पर एक छोटी सी पाठ्य-पुस्तक हिन्दी में लिखने को कहा और मैंने उसका प्रथम अध्याय उसी समय लिखा भी परन्तु उसकी शैली न अशोक जी को पसन्द आयी और न स्वयं मुझको ही। अतः वह प्रयत्न उस समय छोड़ दिया।

१६४२ में जब मैंने त्रैमासिक 'विकास' का कोटे से संपादन किया, तो मैंने समाजशास्त्र पर एक लेखमाला प्रकाशित की। उसको देखकर कई पाठकों और इष्ट मित्रों ने मुझे फिर प्रेरित किया कि मैं उसे पुस्तक का रूप दूँ। कई विद्वान मित्र तो मेरे अशिष्ट 'मौन' की चिंता न करके भी मुझे प्रेरित और उत्साहित करते रहे। मैं इन सभी महानुभावों का अत्यन्त कृतज्ञ हूँ, क्योंकि इन्हीं की प्रेरणाओं से मैं इस विषय पर लेखनी उठाने का साहस कर सका। अतः यदि पुस्तक में कुछ भी 'गुण' है, तो उसका श्रेय इन्हीं महानुभावों को है।

मैं राजपूताना विश्वविद्यालय को धन्यवाद अर्पित करता हूं जिसने पुस्तक के लिये ५००) प्रदान किये हैं। 'सुमति-सदन, कोटा' तथा उसके अध्यक्ष उपाध्याय मुनि विनयसागर जी महाराज का मैं विशेष रूप से कृतज्ञ हूं, जिनकी सहायता बिना पुस्तक का प्रकाशन असंभव था।

आषाढ़ी पूर्णिमा
१६५३

फतहसिंह



भारतीय समाजशास्त्र—मूलाधार

विषय-सूची

भारतीय समाजशास्त्र

(१) विषय-प्रवेश

परिभाषा

समाजशास्त्र के विषय में कई भ्रम फैले हुए हैं; और यह भ्रम केवल साधारण जनों में ही नहीं अपितु कई कालेज अध्यापकों में भी मिलेंगे। कुछ लोगों के विचार में तो इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र प्रभृति सामाजिक शास्त्रों में से प्रत्येक को ही समाजशास्त्र कहा जा सकता है; कुछ दूसरे लोग इन सभी के समूह को समाजशास्त्र मान लेते हैं। परन्तु, इन दो में से एक भी विचार ठीक नहीं; वास्तव में अर्थशास्त्र आदि की भांति ही समाजशास्त्र भी एक स्वतंत्र सामाजिक शास्त्र है और यद्यपि अन्य प्राकृतिक अथवा सामाजिक शास्त्र उसके अध्ययन में सहायक होते हैं, फिर भी वे सामूहिक रूप में या पृथक पृथक उसका स्थान नहीं ले सकते।

यथार्थ में, उक्त अशास्त्रीय मतों का उत्तरदायित्व प्रारम्भिक समाजशास्त्रियों की अशास्त्रीयता पर है। उन्होंने समाजशास्त्र की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें उसका स्वरूप पूर्णतया

अनिश्चित और अस्पष्ट प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ ई० सी० हेज के अनुसार समाजशास्त्र 'जीवन का अध्ययन' है; सी० ए० एल्वुड के विचार में वह 'समाज का अध्ययन' है; एल० यफ० वार्ड उसे 'मानवीय सिद्धि और संस्कृति का अध्ययन' मानता है और जी० सिमेल उसे 'समाजीकरण का अध्ययन' समझता है।

इन परिभाषाओं में प्रधान दोष यह है कि कुछ हेर-फेर के बिना ही इनका प्रयोग अन्य सामाजिक-शास्त्रों के लिये भी हो सकता है, क्योंकि इनमें जो समाज आदि का अध्ययन समाजशास्त्र का विषय बतलाया गया है, वही इतिहास आदि का भी है। इस प्रकार की भ्रामक परिभाषाओं से भ्रम-पूर्ण धारणाओं का जन्म होना अस्वाभाविक न था। ये परिभाषाएँ उस समय की हैं जब कि समाजशास्त्र प्रारम्भ ही हुआ था।

आगे चलकर समाजशास्त्र की परिभाषा में पहले की अपेक्षा अधिक स्पष्टता तथा निश्चितता आगई और 'अध्ययन' के स्थान पर 'व्याख्या' आदि शब्दों का प्रयोग होने लगा। यफ० यच० गिडिंग्ज़ ने कहा कि समाजशास्त्र सामाजिक तथ्यों की वह व्याख्या है जो मानसिक संचलन (Psychic activity) पिंड-समन्वय (organic adjustment) प्राकृतिक चुनाव (natural selection) तथा शक्ति-संरक्षण (conservation of energy) के विचार से की जाय। यफ० एच० हार्किंग्ज ने बतलाया कि भौगोलिक, वनस्पतिशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और

सांस्कृतिक दृष्टि से, मानव-वर्गों के स्वरूपों एवं विकासात्मक परिवर्तनों की क्रमबद्ध व्याख्या करना ही समाजशास्त्र का उद्देश्य है। इन दोनों परिभाषाओं को देखने से पता लगेगा कि यहां मानव-क्रियाओं और सामाजिक तथ्यों का अध्ययन करने के लिये आवश्यक दृष्टि-बिन्दुओं से जीवन के जिन जिन क्षेत्रों और विभागों का सम्बन्ध है उन सभी को गिनाने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु मानव-जीवन इतना पेंचीदा और विभिन्नतामय है कि इस प्रकार की गणना में सफलता की सम्भावना ही नहीं की जा सकती। फिर भी, इन परिभाषाओं ने समाजशास्त्र के स्वरूप को बहुत कुछ स्पष्ट किया है। इनकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि इनमें मानव-जीवन की समस्याओं के विवेचन में प्राणिशास्त्रीय दृष्टिकोण एवं विकासात्मक प्रणाली का अनुसरण किया गया है। मानव-जीवन के अध्ययन में यह पद्धति बड़ी उपयोगी सिद्ध हुई है; इसी के फलस्वरूप मनुष्य की सभी क्रियाओं का अध्ययन—चाहे वे मानसिक हों या शारीरिक—पशु जीवन के साथ जोड़ कर होने लगा है। इस प्रकार के प्रयत्नों का सबसे अच्छा उदाहरण एच० जी० वेल्स की प्रसिद्ध त्रयी* में मिल सकता है। वेल्स ने यथासम्भव सभी आधुनिक अन्वेषणों के आधार पर न

---

* 1 – The Outline of History.

2—The Work, Wealth and happiness of mankind.

3—The Science of life.

केवल मनुष्य की शारीरिक क्रियाओं का इतिहास मनुष्येतर प्राणि-वर्ग से प्रारम्भ किया है, अपितु मानव मस्तिष्क तथा उसके भावों और विचारों का विकास भी यहीं से बतलाने का प्रयत्न किया है।

उक्त परिभाषाओं में इस विकासात्मक प्रणाली का समावेश है, परन्तु तो भी यह मानना पड़ेगा कि उनसे समाज-शास्त्र का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। वस्तुतः समाजशास्त्र अभी तक अन्य शास्त्रों की भांति सुविकसित नहीं हो पाया, अतः उसकी परिभाषा सम्भवतः अभी उतनी पूर्ण नहीं हो सकती, जितनी पदार्थविज्ञान आदि की। फिर भी इस ग्रन्थ में समाज-शास्त्र की परिभाषा देने का प्रयत्न किया जायगा; परन्तु मेरे विचार में किसी भी शास्त्रीय विवेचन में परिभाषा प्रारम्भ में न होकर अन्त में होनी चाहिये, क्योंकि तब तक पाठक लेखक द्वारा प्रतिपादित विषय को भलीभांति ग्रहण कर चुकते हैं और किसी भी सूक्ष्म निष्कर्ष को समझने में अनायास ही समर्थ हो जाते हैं। अतः इस ग्रन्थ में परिभाषा अन्त में दी गई है।

फिर भी यहां पर एक कामचलाऊ परिभाषा दे देना आवश्यक है। लुई ए० बेर्नेर्ड ने अपनी फंडामेण्ट्स आव सोशिआलोजी में लिखा है, 'यदि हम समाजशास्त्र को एक कामचलाऊ परिभाषा देना चाहें तो कह सकते हैं कि यह मानवीय क्रिया-प्रतिक्रिया (interaction) की दृष्टि से होने

वाली सामाजिक प्रणालियों एवं सामाजिक ढांचों (structures) की वैज्ञानिक व्याख्या है।' यद्यपि इस परिभाषा का प्रणेता पूर्णता का दावा नहीं करता फिर भी इसमें समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिये बहुत सी उपयुक्त बातें मिल जाती हैं। भाषा, राज्य, व्यापार-संगठन आदि अनेक सामाजिक ढांचे हैं; उनको उत्पन्न करने वाली और उनसे उत्पन्न होने वाली, उनमें परिवर्तन करने वाली और उनसे परिवर्तित होने वाली अनेक प्रणालियां हैं—समाजशास्त्र इन्हीं की वैज्ञानिक व्याख्या करता है, इन्हीं का कार्यकारण दृष्टि से विश्लेषण करता है।

विषय का स्वरूप और विस्तार

(क)

समाजशास्त्र के स्वरूप को समझने के लिये यह अच्छा होगा कि हम अनेक सामाजिक प्रयत्नों, प्रणालियों और ढाँचों में से किसी एक को ले लें और उसका विश्लेषण करके देखें कि उसके निर्माण में कौन कौन से सामाजिक तत्त्वों ने भाग लिया है और उसमें कौन कौनसी प्रणालियों ने योग दिया है। उदाहरण के लिये यहां हम सैन्य-संगठन को लिये लेते हैं। आज मानव-समाज में सैन्य-संगठन सर्वत्र है। यों तो यदि एक छात्र से किसी सेना पर एक लेख लिखने को कहा जाय, तो सम्भवतः वह उसके सैनिकों, शस्त्रास्त्रों तथा यानों का वर्णन करेगा और बहुत होगा तो अन्न, वस्त्र और छावनी का उल्लेख कर देगा। परन्तु, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर पता चलेगा कि

सैनिक, शस्त्रास्त्र, यान, अन्न-वस्त्र तथा छावनी में से प्रत्येक के निर्माण में कई बड़ी लम्बी और पेचीदा प्रणालियों ने भाग लिया है।

सैनिकत्व प्राप्त करने से पहले, उनका योग्य शिक्षक-समुदाय द्वारा उचित शिक्षण होता है; यह शिक्षण भी न केवल व्यूह-रचना, शस्त्र-प्रयोग आदि की दृष्टि से विभिन्न प्रकार का होता है अपितु सिपाहियों और अफसरों का शिक्षण भी भिन्न भिन्न होता है और उसके संपादन के लिये जिन शिक्षकों की आवश्यकता पड़ती है उनको भी विभिन्न शिक्षा-प्रणालियों में होकर निकलना पड़ता है। और यदि सैनिकों में भी स्थल, जल तथा वायु सेना की दृष्टि से भेद किया जाय, तो उनकी शिक्षा दीक्षा की प्रणालियों और उनमें योग देने वाले समुदायों की सूची और भी बढ़ जायगी। शिक्षण के समान ही पेचीदी छंटाव और भर्ती की प्रणाली है, जिसमें गांव गांव में घूमने वाले एजेन्टों से लेकर बड़े बड़े अफसरों, बुद्धि-परीक्षकों तथा डाक्टरों तक का योग रहता है, जिनके स्वयं के शिक्षण की प्रणालियों का अध्ययन करने से भी ऐसा ही एक पेचीदा संगठन मिलेगा।

भर्ती होने से पूर्व, ये सैनिक एक विशेष मानदण्ड के भीतर आने वाले स्वास्थ्य, कद, मानसिक विकास, चरित्र तथा आयु के साधारण जन ही होते हैं और इनके निर्माण के लिये उत्तरदायी तत्त्वों का एक साधारण अनुशीलन भी बतला सकता

है कि प्रकृति और मनुष्य ने कैसे गूढ़ एवं विशाल आयोजन इस काम के लिये कर रक्खे हैं। गर्भाधान से जन्म और जन्म से वयस्कता तक प्रकृति और समाज रूपी फैक्टरियां अपनी जिन जिन मशीनों का प्रयोग उस पर करती हैं उनकी गति-विधियों और प्रक्रियाओं को समझना अत्यन्त दुरूह है। इन सभी अवस्थाओं में उसके रक्त मांस, मेद और मज्जा को निर्माण करने वाले भोजन के उत्पादन और उपभोग के अन्तर्गत जिस प्रकार अनेक प्रणालियों और प्रक्रियाओं का समावेश होता है, उसी प्रकार उसे बाहरी शीत आदि से बचाने वाले छादन या वस्त्र, उसकी आत्माभिव्यक्ति में प्रयुक्त क्रन्दन, हास्य, संकेत, भाषण, तथा लेखन आदि तथा भोजन, वस्त्र, संरक्षणादि में प्रयुक्त अनेक यंत्र, शस्त्रास्त्र तथा यातायात के साधनों में से प्रत्येक के उत्पादन और उपभोग के अन्तर्गत भी इसी तरह अनेक प्रकार की प्रणालियों प्रक्रियाओं का जाल बिछा है. जिनमें से प्रत्येक ने सैनिक के निर्माण में योग दिया है।

सैन्य-संगठन का अध्ययन करने के लिये सैनिक के पश्चात् हमें शस्त्रास्त्र, यान, अन्नवस्त्र और छावनी के निर्माण पर विचार करना होगा। यों तो इन सब कामों के लिये, सेना विभाग में पृथक पृथक अफसर नियुक्त हैं, परन्तु ये अफसर स्वयं तो इन सब वस्तुओं को बना नहीं लेते; उन्हें न केवल इन वस्तुओं के प्राप्त हो जाने पर इनके प्रबन्ध के लिये पृथक पृथक संगठन चाहिये, अपितु इनको प्राप्त करने के लिये भी वे ठेकेदारों की

सहायता लेते हैं; ये ठेकेदार सम्भवतः विभिन्न वस्तुओं के लिये अन्य छोटे छोटे ठेकेदार रक्खेंगे। ये छोटे ठेकेदार भी इन वस्तुओं को स्वयं नहीं बनाते. ये किन्हीं दूकानदारों या विक्रय संस्थाओं के पास जायेंगे, जो इन वस्तुओं के उत्पादक मनुष्यों या कारखानों के पास जायेंगे। इस प्रकार जाते जाते मजदूर और किसान से लेकर दलालों, क्लर्कों, छोटे छोटे दुकानदारों और बड़े बड़े पूँजीपतियों, हँसिया जैसे उपकरणों से लेकर एंजिन जैसी बड़ी बड़ी मशीनों तथा मनुष्य, अश्व आदि की शक्ति से लेकर गैस, बिजली आदि की शक्तियों तक का इन वस्तुओं के उत्पादन और उपभोग में प्रयोग होता मिलेगा।

सैन्य-संगठन के विभिन्न अंगों के निर्माण पर विचार कर लेने पर भी ऐसे प्रश्न रह जाते हैं, जिनको समझे विना सैन्य संगठन का पूरा विवेचन नहीं हो सकता। सैन्य-संगठन होता ही क्यों है? क्या युद्ध होना अनिवार्य है? मनुष्य स्वभावतः मौत से डरता है। सेना में भर्ती ही क्यों होता है? क्या मनुष्य स्वभाव से ही लड़ने-भिड़ने और मारपीट का प्रेमी है? यदि नहीं, तो वह ऐसे घातक संगठन में भाग ही क्यों लेता है? ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, घृणा आदि का व्यक्तिगत युद्धों में जो भाग रहता है, क्या वही समष्टिगत युद्धों में भी? क्या व्यक्तिगत झगड़ों की भांति समष्टिगत युद्धों का अहिंसात्मक उपायों से निपटारा नहीं हो सकता? व्यक्ति और समाज के व्यवहार क्या एक से हैं? क्या व्यक्ति समाज के हाथ की कठपुतली है?

क्या मनुष्य की घातक और रचनात्मक प्रकृतियों में कोई संबन्ध है? ये और ऐसे अन्य प्रश्नों के उत्तर ढूँढने में हमें व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संबंधों का पता लगेगा, दोनों की अनेक प्रकृतियों, प्रवृत्तियों, शक्तियों आदि का जाल दिखाई पड़ेगा और व्यष्टि एवं समष्टि के विस्तृत मनोवैज्ञानिक जगत् का अवलोकन करना पड़ेगा।

(ख)

सैन्य-संगठन का विश्लेषण करने से हमें उसके पीछे जिस प्रकार एक महान् सामाजिक संगठन मिला, जिसमें असंख्य सामाजिक प्रयत्नों, प्रणालियों और ढांचों का अन्तर्भाव था, उसी प्रकार का संगठन हमें किसी भी सामाजिक प्रयत्न, प्रणाली या ढांचे के विश्लेषण करने से मिलेगा। समाज या उसके अंगों में जो घटना घटित होती है, जो भी बनता विगड़ता है, जो भी परिवर्तन होता है वह कोई एकान्त में होने वाली घटना नहीं, उसके पीछे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से समाज का एक विशाल संगठन होता है, जिसके अन्तर्गत अनगिनती क्रियायें, प्रक्रियायें, घटनाएँ आदि होती हैं। समाज की ऐसी ही प्रत्येक छोटी बड़ी सृष्टि, क्रिया, प्रक्रिया, घटना प्रणाली आदि के विश्लेषण करने से जिस विस्तृत और विशाल सामाजिक संगठन का पता लगता है वही समाजशास्त्र का विषय है, उसी का अध्ययन और उसी के अन्तर्गत विभिन्न धाराओं, क्रियाओं आदि की व्याख्या करने का प्रयत्न इस ग्रन्थ में किया जायेगा।

परन्तु, यदि समाज की प्रत्येक धारा, प्रत्येक क्रिया और प्रत्येक तथ्य को लेकर उसकी व्याख्या की जाय तो इस प्रयत्न में न तो पूर्ण सफलता प्राप्त करने की सम्भावना ही है और न ऐसा करना वैज्ञानिक ही होगा। हमें तो कुछ ऐसे सामान्य नियम तथा मूल सिद्धान्त निकालने हैं, जिन पर सारा सामाजिक संगठन आश्रित है और जिनसे बचकर समाज में कुछ भी नहीं हो सकता।

इस प्रकार के सामाजिक नियमों और सिद्धान्तों में एक व्यापक नियम जो अर्थशास्त्र से लिया जा सकता है 'मांग और पूर्ति' का नियम है। अन्न, वस्त्र, अस्त्र शस्त्र आदि अनेक वस्तुओं के उत्पादन, समाचार-पत्र, पुस्तक, रेडियो, भाषण आदि द्वारा विज्ञापन एवं प्रकाशन, काव्य, संगीत, कला, आलेख्य, नृत्य आदि द्वारा मनोरञ्जन, तथा शासन, न्याय, युद्ध आदि द्वारा नियमन एवं संरक्षण आदि की क्रियायें किसी न किसी सामाजिक 'मांग' की पूर्ति में की जाती हैं। परन्तु, समाज-शास्त्रीय 'मांग और पूर्ति' के नियम, स्वरूप एवं संचलन में, उसी नाम के अर्थशास्त्रीय नियम से भिन्न है। समाजशास्त्र में मांग या पूर्ति का नियम केवल आर्थिक वस्तुओं तक ही सीमित नहीं है; इसका सम्बन्ध खेल-कूद, व्यायाम, मनोरञ्जन तथा मेल-मिलाप आदि की ऐसी क्रियाओं से भी है जो अर्थशास्त्र की परिधि में नहीं आतीं। अतएव यह नियम अर्थशास्त्र में जिस प्रकार संचलन करता है समाजशास्त्र में ठीक वैसा ही नहीं करता। इसका सविस्तर वर्णन आगे किया जावेगा।

यद्यपि सामाजिक संगठन की सारी क्रियायें माँग और पूर्ति के नियम के अन्तर्गत होती हैं, फिर भी इन सारी क्रियाओं को चार 'गौण' विभागों में बांट सकते हैं। यहां 'गौण' शब्द से दो अभिप्राय हैं—एक तो यह कि इन भागों में जो क्रियायें रक्खी गई हैं वे अपने अपने गुणों के विचार से रक्खी गई हैं; दूसरे यह कि क्रियाओं के ये भाग रस्सी के 'गुणों' की भांति एक दूसरे से ऐसे हिले-मिले हैं कि एक दूसरे के विना नहीं रह सकता। इन गौणों के स्वरूप को स्पष्टतः समझने के लिये हमें सैन्य-संगठन के उक्त विश्लेषण से सहायता मिल सकती है; संगठन की सारी क्रियाओं का मूल उसकी 'मांग' है; ये मांग दो प्रकार की है—एक के अनुसार अन्न, वस्त्र, शस्त्रास्त्र, यान आदि 'सामान' तथा डाक्टरों, रंगरूटों, इञ्जीनियरों, मजदूरों, किसानों आदि की 'सेवायें'; और दूसरी के अनुसार स्वास्थ्य के लिये व्यायाम, मनोरञ्जन के लिये संगीत, सुधार के लिये शिक्षण तथा आध्यात्मिक उन्नति के लिये उपासना आदि 'साधनायें' उसे चाहिये। इन सामानों, सेवाओं और साधनाओं के जुटाने या संग्रह करने में सैन्य-संगठन की बहुत सी क्रियायें होती हैं; इनको संग्रहणात्मक क्रियायें कह सकते हैं। इन सामानों, सेवाओं और साधनाओं का संग्रहण होने के पश्चात् भी तब तक इनका कोई उपयोग नहीं हो सकता, जब तक उचित क्रियाओं द्वारा विभिन्न 'माँग-क्षेत्रों' में इनका वितरण नहीं हो जाता। अतः समाज को कुछ क्रियायें वितरण-कार्य में लगाना पड़ती है। संग्रहण तथा वितरण का काम यों तो प्रत्येक व्यक्ति

प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष में कुछ न कुछ करता ही है, परन्तु सैन्य-संगठन में इनके लिये विशेष व्यक्ति समुदाय भी होते हैं। एक सैनिक जब भोजन करता है तो भोजन-वितरण की सामाजिक क्रिया में भाग लेता ही है, साथ ही वह भोजन द्वारा शक्ति संग्रहण की सामाजिक क्रिया में भी योग दे रहा है; इसके अतिरिक्त सैन्य-संगठन के अन्तर्गत ही ऐसे संगठन और समुदाय भी हैं जो विशेष रूप से भोजन-वितरण अथवा शक्ति-संग्रहण में लगे हुए हैं—उदाहरण के लिये एक समुदाय फल, दूध आदि का वितरण कर सकता है, दूसरा मांस, अण्डा, मछली, रोटी का; इसी प्रकार बन्दूक, गोला-बारूद आदि का निर्माण करने वाले तथा उन्हें सैनिकों में वितरण करने वाले संगठन और समुदाय वास्तव में रंगरूटों को भर्ती करने वालों की भांति ही शक्ति-संग्रहण का काम करते हैं।

संग्रहण और वितरण की क्रियायें तभी सुचारु रूप से चल सकती हैं, जब उक्त क्रियायें संगठित रूप से की जायें और उनको निरापद तथा सुव्यवस्थित वातावरण मिल सके; इस काम के लिये संरक्षणात्मक क्रियाओं की आवश्यकता होती है। सैन्य-संगठन के भीतर भी विभिन्न विभागों में जो संगठन देखा जाता है तथा प्रहरियों द्वारा रक्षा या अधिकारियों द्वारा व्यवस्था का जो प्रबन्ध किया जाता है वह संरक्षण का काम है, जिसके अभाव में सेना के लिये 'सामान, सेवाओं और भावनाओं' का संग्रहण अथवा वितरण कुछ भी संभव नहीं।

संरक्षण के काम में भी संग्रहण अथवा वितरण की भाँति ही विशेष समुदायों और संगठनों के अतिरिक्त प्रत्येक सैनिक का योग रहता है। जो प्रहरी पहरे पर खड़े हैं, वही संरक्षण का काम कर रहे हों यह बात नहीं; जो पड़े सो रहे हैं उनके सहयोग बल का भरोसा होने से ही प्रहरी अपने काम में सफल हो रहे हैं। इसी प्रकार सेनापति से लेकर हवलदार तक जो नियन्त्रण एवं नियमन करने के लिये उत्तरदायी अधिकारी हैं, वे ही संगठन द्वारा 'संरक्षण' नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत प्रत्येक सैनिक जो उनके नियन्त्रण एवं नियमन को स्वीकार करता है संरक्षण के अन्तर्गत आने वाले संगठन में योग देता है।

इस प्रकार सैन्य-संगठन के विश्लेषण से हमें सामाजिक संगठन का जो रूप दिखाई पड़ा, उसमें संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण तीन मुख्य कर्म दिखलाई पड़े। ये तीनों कर्म हमें किसी भी सामाजिक प्रयत्न, प्रणाली या ढांचे के विश्लेषण करने पर दिखाई पड़ेंगे और ये वस्तुतः सामाजिक संगठन के तीन स्तम्भ हैं। परन्तु इन स्तम्भों के अतिरिक्त एक और महास्तम्भ है, जिसके ऊपर उक्त तीनों स्तम्भ खड़े हैं। यह महास्तम्भ है प्राणन (जाने की क्रिया)। यदि समाज की यह क्रिया बन्द हो जाय तो संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण की सभी क्रियायें बन्द हो जायें। प्राणन ही इन क्रियाओं को चेतनता देता है और उद्देश्य एवं नियमन प्रदान करके उन्हें यान्त्रिक क्रियाओं से भिन्न बनाता है। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि

प्रागन-क्रिया न केवल संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण के भीतर विद्यमान है, अपितु समाज के प्रत्येक व्यक्ति और उसकी प्रत्येक क्रिया में वर्तमान है।

अतः सामाजिक संगठन का अध्ययन इन्हीं चार क्षेत्रों में किया जा सकता है:—

(१) प्रागन (२) संरक्षण (३) संग्रहण तथा (४) वितरण

यही समाजशास्त्र के चार मुख्य अंग हैं, जिनको ऊपर 'गौण' कहा गया है।

(ग)

इन चारों में से 'प्रागन' ही भारतीय समाजशास्त्र को भारतीयता प्रदान करता है क्योंकि आत्मा, प्रजापति, प्राण, अग्नि आदि प्रागन के प्रतीक ही भरत हैं।

जब तुलसीदासजी* ने भरत का अर्थ भरण-पोषण करने वाला किया तो यह उनकी कोई मन-गढ़न्त न थी। वेद में समस्त विश्व का 'भरण करने के कारण प्रजापति का नाम भरत (श० ब्रा० ६, ८, १, १४; यजु० १२, ३४) है; हमारे पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड में रहने वाला आत्मा या परमात्मा अपने क्षेत्र की प्रजाओं का 'भरण' करने से 'भरत' कहलाता है (कौ० ब्रा० ३, २; श० ब्रा० १, ४; ३, २, १, ५, १,८); प्राण, अग्नि (ऐ० २, २४; श० १, ५, १, ८) तथा सूर्य (श० ४, ६, ७, २१) भी

* विश्व भरण पोषण कर जोई।
 ताकर नाम भरत अस होई॥

इसीलिये 'भरत' कहे गये हैं। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार दौष्यन्ति भरत का नाम भी न केवल इस लोक का अपितु इन्द्र— लोक तक का 'भरण' करने से पड़ा जान पड़ता है (ऐ० ८, २३, श० १३, ५, ५, ४, ११-१३; २१) कहा जाता है इस प्रकार हमारे देश के नाम का आधार आस्तिकता और विश्वबन्धुता दोनों ही हैं। यही वस्तुतः भारतीयता के मूल तत्त्व हैं, जो वेद, वर्धमान तथा बुद्ध की वाणी द्वारा प्रकट हुए और जिनको आधुनिक युग में भी गांधी जी ने सत्य एवं अहिंसा का नाम दिया।

हमारी राष्ट्रीयता की कल्पना भी इसके अनुरूप ही है। अथर्ववेद के एक मंत्र के अनुसार राष्ट्र शब्द संभवतः 'रा' धातु से निकलता है,जिसका अर्थ है देना। अतः राष्ट्र की कल्पना का आधार है 'दान' उत्सर्ग और बलिदान की भावना। प्रत्येक व्यक्ति अपनी 'राति' (देन) द्वारा जिस समाज का पोषण करता है और जो अपनी 'राति' द्वारा प्रत्येक ऐसे व्यक्ति का पोषण करता है वह राष्ट्र है। जो व्यक्ति अपनी 'राति' समाज को नहीं देता या जो इसलिये अथवा किसी अन्य कारण से समाज की 'राति' पाने का अधिकारी नहीं वह 'अराति' है, दस्यु है, समाज का शत्रु है। अतएव 'नेशन' के लिये जहां, एक वेश, एक भाषा, एक राज्य, और किसी किसी के अनुसार एक रंग और एक पूजा-पद्धति की भी आवश्यकता हो सकती है, वहां भारत में वेश, भाषा, राज्य, रंग तथा, पूजा-पद्धति की अनेकता होते हुये भी शताब्दियों तक एक राष्ट्र रहा। राष्ट्र और

राष्ट्रीयता का यह उदात्त आदर्श न केवल देश के भीतर अपनाया गया, अपितु प्रवासी भारतीयों ने भी इसी को अपनाया। इसी का परिणाम है कि भारतीय संस्कृति जहां गई वहां उसने स्थानीय संस्कृति को गौरव प्रदान किया। डा०सुनीति कुमार चाटुर्ज्या के शब्दों में —

" Wherever it went, Indian Philosophy and culture came not to destroy, but to fulfil. It came like the life giving rain, and not like the burning wind or killing blight. We cannot help feeling sad at the destruction of Mexican, Central American and Peruvian Cultures by the greed, the superstition and the fanaticism of Catholic Spain × × × × A Mexico or a Peru without the Spaniards—who would regret it ? But can we contemplate a Java and a Siam , a China and a Japan, without the richness of life and experience and the astonishing efforescence of their minds and spirits manifesting itself in literature and art and ritual which Contact with India brought them ?"

भारतीयता की यही उदात्त समन्वय-भावना 'भारत' के मूल में भी निहित है। नाट्य और संगीत से संबन्ध रखने वाले

एक भरत और हैं। एक परंपरा के अनुसार इनके नाम भ, र और त क्रमशः भाव, राग तथा ताल के द्योतक हैं जिनके समन्वय के विना नाट्य या संगीत संभव नहीं। उपनिषद् के एक रूपक में विश्व की प्रत्येक क्रिया प्रक्रिया को एक संगीत माना गया है और पौराणिक कल्पना उसे नटराज का नाट्य मात्र ही मानेगी। अतः संस्कृति-प्रसार की क्रिया-को भी एक संगीत या नाट्य मानलें, तो इसे भारती तभी कह सकते हैं जब उसके भाव, राग तथा ताल में समन्वय हो—दाता से लेकर गृहीता तक एक शान्त, स्निग्ध तथा सरस स्रोत समभाव से बहने लगे। अतएव भारत एवं भारतीयता के आधार में न केवल आस्तिकता एवं वन्धुता है अपितु समन्वय-साधना भी। सत्य, अहिंसा और समन्वय भारतीयता के श्लाध्य तत्त्व होने से, वह उन्हें दैवी संपत्ति मानती है और इनसे विपरीत तत्त्वों को आसुरी संपत्ति।

भारतीयता के इसी आदर्श को सामने रखकर यहां समाजशास्त्र को भारतीय समाजशास्त्र कहा गया है। भारतीय संस्कृति इसी आधार पर है।

अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट हो गया होगा कि समाजशास्त्र के विषय का वहुत वड़ा विस्तार है; और ऐसा वड़ा क्षेत्र होने पर यह स्वाभाविक है कि समाजशास्त्र का सम्वन्ध अन्य शास्त्रों

से हो। इतिहास, अर्थशास्त्र, राजनीति, नागरिकशास्त्र आदि सामाजिक शास्त्र समाज के ही किसी न किसी पक्ष से सम्बन्ध रखते हैं, इसलिये इन का समाजशास्त्र से चोली-दामन का सम्बन्ध है। जिन विषयों का इतिहास, ऐतिहासिक दृष्टि से, राजनीति, राजनीतिक संगठन की दृष्टि से और नागरिक-शास्त्र, नागरिकता की दृष्टि से अध्ययन करता है, उन्हीं का समाजशास्त्र भी अपने दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। अतः ये शास्त्र समाजशास्त्र के बहुत निकट हैं और उसके अध्ययन में सहायक हो सकते हैं तथा स्वयं उसके अध्ययन से लाभ उठा सकते हैं।

अर्थशास्त्र की भांति समाजशास्त्र भी 'सामान और सेवाओं' के उत्पादन, विभाजन, विनिमय तथा उपभोग की प्रणालियों की व्याख्या करता है; और इन सबका समावेश संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण में हो जाता है; परन्तु समाजशास्त्र के इन अंगों के अन्तर्गत केवल इतना ही नहीं है, उनमें इससे बहुत अधिक है। संग्रहण में न केवल 'सामान और सेवाओं' के उत्पादन आदि का अध्ययन है, अपितु 'साधनाओं' के उत्पादन आदि का भी, जो कि अर्थशास्त्र की परिधि के बिल्कुल बाहर की वस्तुएँ हैं। इसी प्रकार 'संरक्षण' के अंतर्गत जहां राजनीति के अन्तर्गत आने वाले राज्य तथा उसके अन्य अंगों का अध्ययन होता है, वहां उसमें 'सामान तथा सेवाओं' के उत्पादन का संगठन, साधनाओं के उत्पादन का संगठन तथा ऐसे ही अन्य

विषय भी आते हैं, जिनका राजनीति से कोई सीधा नाता नहीं हो सकता।

अर्थशास्त्र तथा राजनीति से समाजशास्त्र की इस भिन्नता का मूल कारण उनके उद्देश्यों की भिन्नता है। अर्थशास्त्र जब समाज के आर्थिक संगठन का अध्ययन करता है, तब उसका एक मात्र उद्देश्य यही रहता है कि वह 'सामानों और सेवाओं' के उत्पादन, विभाजन, विनिमय तथा उपभोग की विभिन्न प्रणालियों की व्याख्या करे और बतलाये कि वे कैसे काम करती हैं। इसी प्रकार राजनीतिशास्त्र राजनीतिक संगठन का अध्ययन करने में राज्य के विभिन्न अंगों की कार्य-प्रणाली तथा गतिविधि की याथातथ्य रूप से व्याख्या करके चुप हो जाता है। परन्तु समाजशास्त्र जब आर्थिक और राजनीतिक संगठनों का अध्ययन करता है, तो उसका लक्ष्य इन संगठनों का अध्ययन नहीं, प्रत्युत सामाजिक संगठन का अध्ययन होता है; अतः वह उनसे वहीं तक सम्बन्ध रखता है, जहां तक वे उसके काम में सहायक होते हैं। एक समाजशास्त्री अर्थशास्त्रीय एवं राजनीतिशास्त्रीय नियमों और निष्कर्षों का निरीक्षण करके देखता है कि वे सामाजिक संगठन को समझने में कहां तक सहायक हो सकते हैं। कभी कभी अर्थशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के संकुचित क्षेत्र में तथ्यों का जो स्वरूप होता है समाजशास्त्र के विस्तृत क्षेत्र में उनका वही स्वरूप नहीं रह जाता। अतः जहां अर्थशास्त्र और राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र के अध्ययन में सहायक है, वहां

समाजशास्त्र भी उनके निष्कर्षों को एक विस्तृत दृष्टिकोण से जांचकर उनकी सामाजिक उपयोगिता या अनुपयोगिता सिद्ध कर सकता है।

इतिहास और समाजशास्त्र का अटूट सम्बन्ध है। पदार्थ-विज्ञान की भांति समाजशास्त्र अपने अध्येय विषयों को एक सीमित प्रयोगशाला में, एक परिमित मेज पर डालकर नहीं निरख सकता और न उन पर कोई प्रयोग या परीक्षण ही दस-पांच साल में समाप्त कर सकता है। वह तो जिन विषयों का अध्ययन करता है, उन पर प्रकृति की अनन्त प्रयोगशाला में ही परीक्षण और प्रयोग होते रहते हैं, जिनके परिणाम अर्द्ध शताब्दियों या शताब्दियों में ही देखे और परखे जा सकते हैं। इन काल-सापेक्ष परीक्षणों और प्रयोगों का लेखा इतिहास में रहता है, अतः इतिहास के सम्यग्ज्ञान के बिना समाजशास्त्र का अध्ययन संभव नहीं। परन्तु समाजशास्त्री को यह आवश्यक नहीं कि वह इतिहास की सारी घटनाओं के देश, काल आदि को रटता फिरे; वह तो यह आशा करता है कि इतिहासज्ञ विद्वान् स्वयं अपने अध्ययन द्वारा मानव-समाज के विकास की सारी प्रणालियों को बतलाकर उसकी सहायता करेगा। साथ ही वह इतिहासज्ञ के निष्कर्षों को अपने दृष्टिकोण से परख कर उसे इतिहास के सम्यक् अध्ययन का ढंग बतलाता है।

इतिहास हमें केवल मानव-व्यवहार का ऐतिहासिक काल के भीतर का चित्र ही दे सकता है। समाजशास्त्र का इतने भर

से काम नहीं चल सकता। उसे इससे पूर्व का भी चित्र चाहिये। अतः वह पुरातत्वविज्ञान नरविज्ञान (Anthropology) तथा जातिविज्ञान (Ethnology) से सहायता लेकर इस चित्र को पूरा करता है। विकासवाद की दृष्टि से मनुष्य ऐसा का ऐसा ही नहीं रचा गया, अपितु उसका नीचे की योनियों से विकास हुआ है। इसलिये मानव के सामाजिक जीवन का विकास समझने के लिये, हमें प्राणिशास्त्र, वृत्तविज्ञान तथा अर्थविज्ञान (Ecology) का सहारा लेकर मनुष्य के उस काल का इतिहास भी जानना पड़ेगा, जब कि वह मनुष्य के नहीं हो पाया था।

सामाजिक संगठन का अध्ययन मनुष्य के भावों, विचारों आदि के अध्ययन के बिना पूरा नहीं हो सकता। मनुष्य का व्यवहार उसके अन्तर्जगत् की बाह्य अभिव्यक्तिमात्र है। मानव-व्यवहार का सम्यक् अध्ययन करने के लिये हमें मनोविज्ञान की सहायता से इस अन्तर्जगत् की गतिविधि को समझना पड़ेगा। आज मनोविज्ञान की पर्याप्त उन्नति हो चुकी है—बाल-मनोविज्ञान, सामाजिक-मनोविज्ञान, सामाजिक-मनोविज्ञान. असामान्य-मनोविज्ञान (Abnormal Psychology) पशु-मनोविज्ञान (Animal Psychology) आदि अनेक क्षेत्रों में यह फैल गया है। इन सभी के निष्कर्षों और नियमों का उपयोग समाजशास्त्र के लिये अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यहां भी ब्योरेवार सभी बातों को हम रटने नहीं बैठेंगे; हम

केवल उन्हीं बातों को लेंगे, जो सामाजिक संगठन को समझने के लिये अनिवार्य हैं।

मनुष्य के कार्य-कलाप प्रकृति के प्रभाव से कदापि नहीं बच सकते। अतः प्रकृति के विभिन्न अंगों का अध्ययन करने के लिये जो जो ज्ञान-विज्ञान हैं, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में उन सभी से थोड़ी बहुत सहायता मिलना सम्भव है। पदार्थविज्ञान रसायनशास्त्र, गणित, ज्योतिष तथा भूगोल जैसे प्राकृतिक विज्ञानों के निष्कर्ष भी समाजशास्त्र के बड़े काम के हैं, क्योंकि उनके सहारे ही हम मानव-व्यवहार का प्रकृति के साथ जो सम्बन्ध है उसको समझ सकते हैं। इसी प्रकार शरीरशास्त्र (Physiology), शल्यशास्त्र (Surgery), चिकित्साशास्त्र आदि मानव देह की प्रकृति को समझने वाले विज्ञान समाज-शास्त्र के अध्ययन में पर्याप्त योग दे सकते हैं, क्योंकि इनकी सहायता से ही हम जान सकते हैं कि मानव के शरीर और उसके व्यवहार में क्या सम्बन्ध है और वह किस प्रकार और क्यों प्रकृत या विकृत रूप में व्यक्त होता रहता है। भूगोल के द्वारा हमें उस पृष्ठभूमि का ज्ञान होता है, जिसमें मनुष्य अपने क्रिया-कलाप करता है; अतः उसका ज्ञान भी समाजशास्त्र के लिये बहुत उपयोगी है।

मानव-शरीर की चिकित्सा में जो स्थान शरीरशास्त्र आदि का है; वही समाज की चिकित्सा में अपराधशास्त्र (Criminology), धर्मशास्त्र (Law) आचारशास्त्र (Ethics)

आदि का है। ये शास्त्र बतलाते हैं कि समाज में उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ने वाले कौन से तत्व हैं और स्वस्थ रहने के लिये वह क्या करता रहता है। समाजशास्त्र इन सब पर एक व्यापक दृष्टिकोण से विचार करके यह बता सकता है कि ये रोग और इनकी चिकित्सायें कहां तक एक - देशीय हैं और कहां तक व्यापक, तथा इनके निदान तथा चिकित्सा में जिन ढंगों को अपनाया गया है उनका सामाजिक संगठन पर क्या प्रभाव पड़ता है।

इस प्रकार देखने से पता चलेगा कि समाजशास्त्र प्रायः सभी सामाजिक तथा प्राकृतिक शास्त्रों से कुछ न कुछ सम्बन्ध रखता है और उसके अध्ययन में कुछ न कुछ सभी सहायक हो सकते हैं।



(२) समाज और व्यक्ति

(क) समाज का नाम-रूप

उपनिषद् की एक दृष्टि से सारे विश्व में तीन तत्त्व हैं—नाम, रूप और कर्म। कर्म की दृष्टि से विश्लेषण करने पर समाज में उत्पादन, संग्रहण, वितरण तथा संगठन का समावेश मिलता है। कर्म के विभिन्न तत्त्वों पर सविस्तर मीमांसा करने से पूर्व यहां समाज के नाम-रूप पर विचार कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

साधारण बोल-चाल में, 'समाज' से समूह का ग्रहण होता है, महिला-समाज, बाल-समाज, विद्यार्थी-समाज आदि समासों में इसका यही अर्थ है कभी कभी जब हम, "समाज स्त्रियों का आदर नहीं करता", 'व्यक्ति समाज के हाथ की कठपुतली है" आदि कहा करते हैं, तो हमारा अभिप्राय उक्त छोटे छोटे समाजों से न होकर एक ऐसे 'समाज' से होता है, जिसका उनसे अंग-अंगी-भाव होता है। शास्त्रीय विवेचन में हम इसी अंगी को 'समाज' कहते हैं; और उसके अंगभूत समाजों को समितियां; सभाएँ, परिषदें, संसदें आदि।

उक्त अंगभूत समुदाय पागलखाने के पागलों, चिड़ीमार के पिंजड़े में बन्द चिड़ियों अथवा बाड़े में एकत्र गायों के झुण्ड से भिन्न हैं। इनके लिये संस्कृत शब्द 'समज' का प्रयोग हो

सकता है; इनका ऐसा कोई एक निजी उद्देश्य नहीं जिसकी पूर्ति में इनका प्रत्येक व्यक्ति लगा हो। इन 'समजों' से ही मिलती जुलती वे भीड़ें हैं जो गाड़ी के प्लेटफार्म पर या छुट्टी होने पर कारखाने, स्कूल अथवा सिनेमाघर के द्वार पर दिखाई पड़ती हैं। इनमें प्रत्येक व्यक्ति का, एक अर्थ में, एक ही उद्देश्य होने पर भी इनको उक्त समुदायों का समकक्ष नहीं कहा जा सकता, क्योंकि एक सामान्य उद्देश्य होने पर भी इन 'भीड़ों' के व्यक्ति संगठित और व्यवस्थित होकर परस्पर सहयोग से उसकी पूर्ति नहीं करते हैं। इन 'भीड़ों' से पूर्णतया विपरीत वे जन-समूह हैं, जिन्हें हम 'सेना' कहते हैं। सेनाओं में उद्देश्य, संगठन, व्यवस्था, अनुशासन तथा सहयोग सभी कुछ है, फिर भी वे उक्त समुदायों के समान नहीं कहे जा सकते, क्योंकि इनमें यह सब कुछ बाहर से लादा हुआ है, जब कि उनमें यह सब स्वतः और भीतर से (बाहर से नहीं) उपजा हुआ माना जाना चाहिये—सच पूछिये तो उनकी सार्थकता तथा सफलता ही तब तक है, जब तक उनमें उक्त गुणों का उद्भव स्वतः एवं अन्दर से है।

समाज और लोक

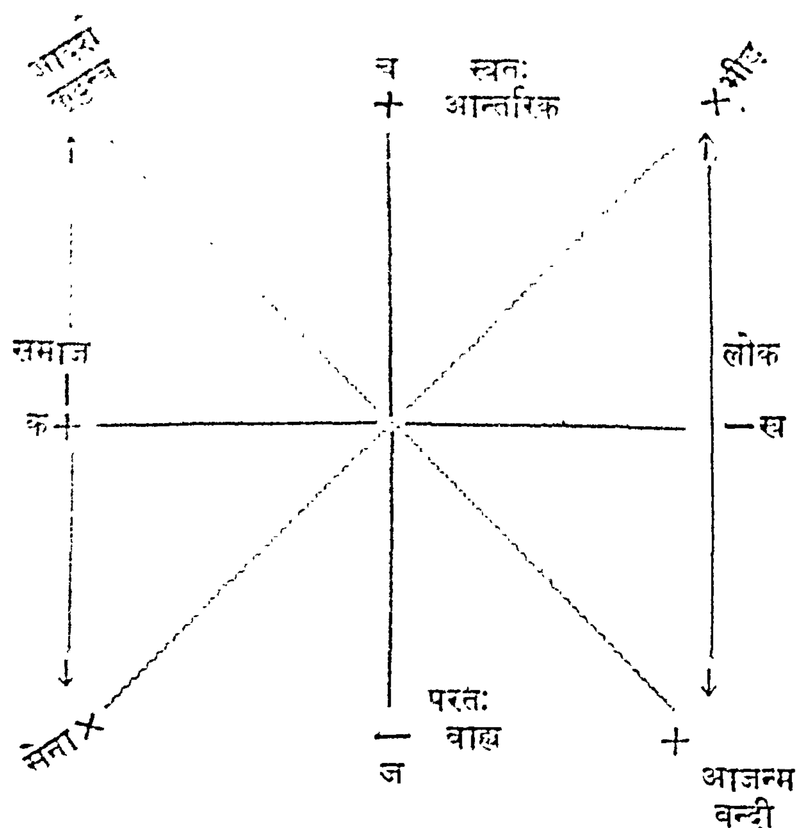
इन अंगभूत समुदायों के अंगी समाज में भी संगठन, व्यवस्था, अनुशासन तथा पारस्परिक सहयोग होता है, और उसकी उत्पत्ति भी यथार्थतः स्वतः एवं आन्तरिक होती है। यहां एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है "क्या समाज में अथवा उसके

उक्त अंगभूत समुदायों में यह अवस्था सदा अपने आत्यंतिक रूप में रहती है?" इस प्रश्न के साथ ही एक और शंका पैदा होती है कि 'क्या उक्त समजों, भीड़ों अथवा सेनाओं जैसे जनसमूह समाज के अन्तर्गत नहीं आते?" इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढने के लिये हमें 'समाज' तथा 'लोक' की तुलना कर लेना आवश्यक होगा।

कभी कभी सुनने में आता है कि—'लोक-निन्दा से कौन नहीं डरता', 'मैं ही नहीं सारा लोक यही कहता है', 'एक दो कहे तो उसे रोका जाय, पर लोक का मुँह कौन पकड़े' इत्यादि। कोई 'लोक' के स्थान पर 'संसार' का भी प्रयोग करते हैं यथा 'संसार कुछ भी कहे, पर मैं तो सत्य पर दृढ़ हूं', 'संसार तो अन्धा है; इसका कहना माना जाय तो सारी प्रगति ही रुक जाय।' कभी कभी 'लोक' के स्थान पर 'लोग' शब्द का भी प्रयोग करते होता है', जैसे, "लोग ऐसा कहते हैं" 'यदि हम असफल रहे, तो लोग हँसेंगे' इत्यादि। स्पष्टतः यह 'लोक' जिसके लिये यहां संसारादि शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, समाज से भिन्न है। वास्तव में ये दोनों शब्द मानव-समुदायों की दो परस्पर-भिन्न प्रवृत्तियों के द्योतक हैं—यदि 'समाज' संगठन व्यवस्था, अनुशासन तथा सहयोग के भाव का प्रतीक है, तो 'लोक' इनके अभाव का। विद्युत के धन एवं ऋण की भांति' ये दोनों मानव की समुदायात्मिका प्रवृत्ति के दो 'अत्यन्त' (Extremes) हैं, जिनको चित्र में क ख रेखा द्वारा दिखाया

गया है। अपने आत्यन्तिक रूप में न तो हमें 'समाज' ही मिल सकता है और न 'लोक' ही। ये तो केवल वैज्ञानिक विवेचन के लिये कल्पित सत्य हैं, व्यवहार में तो हम इनके सापेक्षिक रूप ही को पाते हैं। इसका कारण यह है कि समाजत्व अथवा उसका विलोम 'लोकत्व' दो प्रकार का है— एक तो आन्तरिक या स्वतः दूसरे वाह्य या परतन्त्र। अतः उक्त दोनों 'अत्यन्त' इन दो अत्यन्तों' से परिमित रहते हैं, जिनको आन्तरिक और वाह्य अथवा स्वतः और परतः अत्यन्त कहा जा सकता है; चित्र में इन्हें च ज द्वारा व्यक्त किया गया है।

अतः जैसा कि इस चित्र से प्रकट है समाज की 'दौर' आदर्श कुटुम्ब और सेना के वीच है, जव कि लोक की 'दौर' भीड़ और आजन्म वन्दी के वीच। सुधारकों या नेताओं का प्रयत्न 'लोक' को 'समाज' वनाने की ओर होता है। जव रेल के टिकटघर पर या डाकखाने की खिड़की पर लोगों से पंक्ति-वद्ध होने को कहते हैं, तो हम यही प्रयत्न करते हैं—भीड़ को कुटुम्ब और सेना के वीच की कोई वस्तु वनाना चाहते हैं। जव हमने 'गुलाम-प्रथा' को वन्द करके गुलामों को मुक्ति दी, तो उसका अर्थ यही था कि हमने उन्हें 'कुटुम्ब' और 'सेना' के वीच स्थित सामाजिक जीवन का अंग वनने के लिये कहा। ये सुधारक अथवा नेता भी दो प्रकार के हैं—एक तो समाजवादी जो समाज को एक 'कुटुम्ब' वनाना चाहते हैं, और दूसरे तानाशाहा (डिक्टेटर) जो उसको सेना के रूप में रखना चाहते हैं।



'लोक' को 'समाज' में वदलने के प्रयत्न से स्पष्ट है कि 'लोक' का 'समाज' हो जाना सम्भव माना जाता है; और वस्तुतः आंशिक रूप में ऐसा होता भी रहता है। अभी जो भीड़ रेल के टिकटघर पर धक्का-मुक्की कर रही है, वही रेल-गाड़ी पर बैठ कर विभिन्न व्यक्तियों की टोलियों के रूप में वदल जायगी। रेल के डिब्बे में बैठे हुए (बैठते हुए नहीं) परस्पर बात करते हुए व्यक्तियों को देखिये तो आपको पता लगेगा कि

'संपर्क' ने उन्हें किसी सीमा तक भीड़त्व से समाजत्व में ला बिठाया है। इन्हीं व्यक्तियों को आप इनके घर में जाकर देखिये तो ये दूसरे ही 'जीव' दिखाई पड़ेंगे। इनमें से कुछ किसी सेना में हों, तो इनको वहां जाकर देखिये; वहां आप इनका पूर्णतया काया-पलट देखेंगे। अब यदि आप विचार करें कि ऐसी कौनसी बात थी जिसने भीड़ को टोली, कुटुम्ब तथा सेना के सदस्यों के रूप में बदल दिया, तो आप देखेंगे कि भीड़ में प्रत्येक व्यक्ति यह समझता था कि 'कहीं मेरी हित-हानि न हो जाय; मेरे हित की मुझको ही चिन्ता है और मेरा हित-सम्पादन तो होना ही चाहिये', परन्तु टोली, घर आदि में क्रमशः यह मनोवृत्ति बदलती जाती है। जिस प्रकार 'भीड़' में व्यक्ति अपने को अकेला समझता है, उसी प्रकार बन्दी तथा गुलाम भी अपने को अकेला समझता है; परन्तु जहां भीड़ के व्यक्ति को अपने हित-संपादन की चिन्ता रहती है, वहां बन्दी या गुलाम को दूसरे के हित-संपादन की चिन्ता करनी पड़ती है; उसका अपना कुछ नहीं, उसे तो दूसरे के लिये जीना-मरना है। परन्तु, छुटकारा मिलते ही, वह भी टोली में बैठेगा, कुटुम्ब बनायेगा और आप देखेंगे कि वह बिल्कुल बदला हुआ व्यक्ति है।

इस विवेचन से ऐसा लग सकता है कि 'लोक' बदल कर 'समाज' हो सकता है, अतः कभी यह भी सम्भव है कि 'लोक' न रहे, केवल 'समाज' ही रह जाय। परन्तु क्या यह सचमुच हो सकता है? समाज के दो 'अत्यन्तों', कुटुम्ब और सेना के

व्यक्तियों के व्यवहार का सूक्ष्म-निरीक्षण करने से पता लगेगा कि 'समाज' भी सदा समाज नहीं रहता; समाज में से 'लोक' जब तब फूट पड़ता है। आप अपने कुटुम्ब के सदस्य हैं; इस नाते आप कुटुम्ब के उद्देश्य, संगठन, व्यवस्था नियन्त्रण आदि से अपने व्यवहार को परिमित रखते हैं; परन्तु फिर भी कभी-कभी आप अपनी रुचि के विरुद्ध काम होने पर नाक भौं सिकोड़ते हैं, रूठते हैं, गाली-गलोज करते हैं या मारपीट कर देते हैं। इस प्रकार का व्यवहार क्या 'टिकटघर' पर या रेल में घुसने वाले मुसाफिरों की धक्का-मुक्की से कम है? ऐसे ही एक सैनिक अपने अफसरों का अनुशासन और नियन्त्रण मानता है और सेना के अंग होने के नाते रणस्थल के लिये उद्यत रहता है परन्तु फिर भी वह कभी व्यक्तिगत रूप में अपने अफसरों की टीका-टिप्पणी भी करता है उन्हें कोसता है और मनसा, वाचा कर्मणा ऐसा व्यवहार भी करता है जो उसके सैनिक-जीवन के अनुकूल नहीं। समाज की भांति लोक के 'अत्यन्तों', भीड़ और बन्दी (या गुलाम) का अध्ययन कीजिये, तो आप देखेंगे कि वहां 'लोकत्व' भी निरन्तर तथा स्थिर नहीं रहता। मेले की अन्धी भीड़ में एक लड़का पैरों तले कुचल कर मर गया, तो सब 'हाय हाय' कर उठे, जिन्होंने कुचला वे भी और जिन्होंने देखा वे भी। बन्दी या गुलाम जहां एक अर्थ में अपना निज का कोई सामाजिक जीवन नहीं रखता, वहां दूसरे अर्थ में वह अपना समाज बना डालता है—जो भी मनुष्य, पशु-पक्षी, पेड़-पौदे या ईंट-पत्थर उसके संपर्क में नित्य-

प्रति आते हैं; इन्हीं से उसे मोह हो जाता है। इस 'हायहाय' और 'मोह' के द्वारा 'लोक' में से 'समाज' मुखरित हो रहा है।

लोकत्व और समाजत्व

इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'समाज' तथा 'लोक' का एक ही आश्रय है—व्यक्तियों का समूह; और वे दोनों परस्पर भिन्न होते हुए भी एक दूसरे के रूप में परिणित होते रहते हैं, परन्तु साथ ही एक को पूर्णतया नष्ट करके उसके स्थान पर एक दूसरे की स्थायी प्रतिष्ठा भी नहीं की जा सकती। इसका मूल कारण, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, यह है कि व्यक्ति, समूह में रहता हुआ भी, यह नहीं भूलता कि वह 'व्यक्ति' भी है। सामूहिक जीवन की आवश्यकतायें उसे अपने 'व्यक्ति' को भूलने के लिये बाध्य करती हैं और उसके ऊपर संगठन तथा व्यवस्था का अंकुश (चाहे वह स्वतः हो या परतः) रख कर उससे जो आचरण करवाती हैं, उसी को हम सामाजिक आचरण कहते हुए देखे जाते हैं, तभी वह समूह 'समाज' कहलाता है। इसके विपरीत जब उक्त अंकुश ढीला हो जाता है, तो समूह का प्रत्येक व्यक्ति अपने को अकेला पाता है और अपने अकेले 'व्यक्ति' को ही दृष्टि में रख कर आचरण करता है; किसी समूह के व्यक्ति जब इस प्रकार अपने अपने 'स्व' को लेकर ही आचरण करते हैं, तो वह समूह 'लोक' हो जाता है। अतएव 'समाजत्व' और 'लोकत्व', समूह न होकर, समूह के आचरण की दो भिन्न प्रवृत्तियां हैं, जिनमें से एक का लक्ष्य समष्टि है

और दूसरे का व्यष्टि; अतः एक को समष्ट्यन्त तथा दूसरी को व्यष्ट्यन्त कह सकते हैं। इन दोनों प्रवृत्तियों में से, प्रत्येक अनिवार्य है, क्योंकि मनुष्य के लिये समष्टि उतनी ही स्वाभाविक है, जितनी व्यष्टि। इसलिये इन दोनों प्रवृत्तियों और उनपर आश्रित समाजत्व तथा लोकत्व का अविनाभाव सम्बन्ध मानना पड़ेगा।

लोकमत, समाजमत और राष्ट्रमत

यद्यपि 'समाजत्व' और 'लोकत्व' प्रत्येक समूह में हैं, परन्तु जिस प्रकार एक छोटे समूह (यथा कुटुम्ब) में, प्रत्येक को अपना 'व्यक्तित्त्व' भूलना पड़ता है; उसी प्रकार अनेक छोटे छोटे समूहों को भी किसी देश के बृहत्तम समूह राष्ट्र के 'समाजत्व' के लिये अपना अपना व्यक्तित्व भूलना पड़ता है। साथ ही अन्य समूहों की भांति राष्ट्र में भी 'समाजत्व' और 'लोकत्व' दोनों ही हैं और दोनों में अविनाभाव सम्बन्ध भी है। कुटुम्ब जैसे छोटे समूहों में 'लोकत्व' उसके व्यक्तियों के पृथक पृथक हित, रुचि, प्रतिष्ठा, अहंकार को लेकर प्रकट होने वाले परोक्ष या अर्द्धपरोक्ष विद्रोह के रूप में आता है, परन्तु समूह जैसे जैसे बढ़ते जाते हैं, वैसे वैसे वह (लोकत्व) व्यक्तियों के स्थान पर कुटुम्ब, कुल, वर्ग, समुदाय आदि समूहों के हित, रुचि, प्रतिष्ठा, अहंकार पर आश्रित अर्द्ध-परोक्ष या प्रत्यक्ष विद्रोह के रूप में व्यक्त होता है। समूह जितना ही छोटा होता है, उसका 'लोकत्व' उतना ही असंगठित, अव्यवस्थित, दुर्बल

तथा अप्रत्यक्ष होता है, परन्तु जितना ही वह बड़ा होता है, उतना ही वह संगठित, व्यवस्थित, सबल तथा प्रत्यक्ष होता जाता है।

राष्ट्र के जीवन में इसी को 'लोकमत' कहा जाता है, जो यथार्थतः या तो 'भीड़-मत' होता है अथवा 'बन्दी-मत'। इसकी उपेक्षा करके राष्ट्र अपने 'समाजत्व' की रक्षा नहीं कर सकता; परन्तु राष्ट्र उसे तभी स्वीकार कर सकता है, जब वह 'समाज-मत' होकर आवे; और वह 'समाजमत' तभी माना जाता है, जब उसके विरुद्ध न्यूनतम प्रत्यक्ष विद्रोह हो। 'न्यूनतम प्रत्यक्ष विद्रोह' की अवस्था एकतन्त्र या वर्गतन्त्र राष्ट्र में किसी सीमा तक दण्ड-बल से भी लाई जा सकती है और प्रजातन्त्र में उसकी प्राप्ति चुने हुए प्रतिनिधियों में बहुमत द्वारा होती है, परन्तु जब तक विरोधीपक्ष के मत को पूर्णरूपेण जानकर उसको यथासंभव अधिकतम रूप में नहीं मान लिया जाता, तब तक वह यथार्थ समाजमत न होकर कृत्रिम समाजमत ही होगा। यथार्थतः समाजमत ही राष्ट्रमत है और यह, आदर्शरूप में, निर्भय, सज्ञान तथा निर्विरोध 'एकमत' है; इसी में किसी राष्ट्र का 'समाज' व्यक्त होता है।

अन्तर्राष्ट्रीय समाज

यह तो हुई राष्ट्र-समाज की बात; परन्तु हम यहीं क्यों रुकें! जिस प्रकार एक देश में रहने वाले विभिन्न समूह परस्पर सम्पर्क में आते-आते एक 'राष्ट्र' या एक 'समाज' हो जाते हैं

उसी प्रकार विभिन्न राष्ट्रों में उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ पारस्परिक सम्पर्क तथा सम्बन्ध भी अन्ततोगत्वा एक 'अंतर्राष्ट्रीय समाज' की ओर संकेत कर रहा है। यहां भी 'समाजमत' और 'लोकमत' दोनों ही रहेंगे। परन्तु, यदि एक सबल राष्ट्र अथवा कई राष्ट्रों की एक गुटबन्दी अन्य राष्ट्रों के 'लोकमत' को कुचलता है या उसकी उपेक्षा करता है अथवा राष्ट्रों का एक अनुदार बहुमत विरोधी पक्ष के मत को पूर्ण प्रत्यक्ष नहीं होने देता या पूर्ण प्रत्यक्ष होने पर उसे यथासम्भव अधिकतम रूप में स्वीकार नहीं करता, तो वह कृत्रिम 'समाजमत' रहेगा। राष्ट्र-समाज की भांति ही यहां भी आदर्श 'समाजमत' तो निर्भय सज्ञान तथा निर्विरोध एकमत ही होगा। समाजत्व की दृष्टि से जिस प्रकार राष्ट्र के भीतर विभिन्न धर्मों और समूहों को राष्ट्र की रक्षा करते हुए अपने अपने व्यक्तित्वों की यथासम्भव रक्षा करने का अवसर दिया जाता है, इसी प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय समाज में भी विभिन्न राष्ट्रों को अवसर मिलना चाहिये; तभी अंतर्राष्ट्रीय समाज का 'समाजत्व' यथार्थ हो सकता है।

विश्व-समाज

अन्तर्राष्ट्रीय समाज केवल मनुष्य-जाति तक ही सीमित है। परन्तु हमारा आचरण इस परिधि को लांघ कर बाहर भी जाता है और हम पशु-पक्षी, पेड़-पौदे तथा मिट्टी-पत्थर आदि के सम्पर्क में भी आते हैं। साधारणतया इस मनुष्येत्तर क्षेत्र को हम चेतन तथा अचेतन वर्गों में विभाजित करते हैं और

इनमें से हम अधिक से अधिक चेतन वर्ग के प्रति कुछ सहानुभूति का विधान करते हैं. परन्तु उसको भी हम अपने समाज में मानने को तैयार नहीं होते। परन्तु, ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'समाजत्व' तो एक स्वाभाविक आवश्यकता के रूप में ग्रहण करना पड़ता है और इसका मूल आधार पारस्परिक सम्पर्क की घनिष्ठता है, हमारी स्वीकृति या अस्वीकृति नहीं। कुटुम्ब से लेकर राष्ट्र तक के समूहों में समाजत्व तो उनके घटकों के अन्योन्याश्रयत्व का अनिवार्य्य परिणाम है और यही बात अन्तर्राष्ट्रीय समाज के विषय में भी कही जा सकती है। परन्तु जिस प्रकार कुटुम्ब के घटक जितना परस्पर अन्योन्याश्रयत्व स्वीकार करते हैं, उतना राष्ट्र के घटक नहीं करते हैं; और जितना राष्ट्र के घटक करते हैं, उतना अन्तर्राष्ट्रीय समाज के घटक नहीं करते, उसी प्रकार जितना अन्तर्राष्ट्रीय (मानव) समाज में हम परस्पर अन्योन्या-श्रयत्व स्वीकार करते हैं, मनुष्येतर क्षेत्र में हमें उतना भी स्वीकृत नहीं।

वस्तुतः मनुष्येतर क्षेत्र में इस अन्योन्याश्रयत्व को स्वीकार न करने के कई कारण है। इसके साथ हमारा अति निकट सम्पर्क होते हुए भी, इतना सम्पर्क नहीं हो पाया कि हम उसके साथ अन्योन्याश्रयत्व का अनुभव कर सकें। एक तो इस क्षेत्र में आने वाले चेतन, अर्द्ध चेतन या जड़ अपने 'मत' को व्यक्त नहीं कर सकते, अथवा वैसे स्पष्ट ढङ्ग से व्यक्त नहीं कर सकते जैसे मानव-समाज के विभिन्न घटक कर सकते हैं। दूसरे,

सम्भवतः इसी कारण हमने समझ रक्खा है कि मनुष्य केवल भोक्ता है और यह मनुष्येतर जड़-चेतन समुदाय हमारा भोग्य-मात्र। परन्तु, क्या गूँगा व्यक्ति अपना मत व्यक्त न कर सकने के कारण स्व-कुटुम्ब से बाहर माना जावेगा? यदि स्वमत व्यक्त करने की क्षमता के आधार पर ही किसी घटक का 'समाजत्व' स्वीकार किया जाय, तब तो जो घटक सबसे अधिक और सफल व्यक्तीकरण कर सकें, उन्हीं का समाजत्व का सबसे अधिक अधिकार होना चाहिये और अर्द्ध सभ्य तथा असभ्य जातियों को अन्यराष्ट्रीय या मानव-समाज से अंशतः या पूर्णतः बहिष्कृत कर देना होगा। इसी प्रकार भोग्य होने के कारण भी हम किसी को समाज से बहिष्कृत नहीं करते; यथार्थतः समाजत्व के आधार भूत अन्योन्याश्रयत्व का अर्थ ही यह है कि समाज के सभी घटक एक दूसरे के श्रम का उपभोग करते हैं। मनुष्येतर जड़-चेतन समुदाय के साथ भी क्या हमारा ऐसा ही परस्पर भोग्यत्व का सम्बन्ध नहीं है। यदि हम पशुओं के दुग्ध, चर्म, बाल, मांस आदि का भोग करते हैं, तो वे भी किसी न किसी रूप में मनुष्य-समाज की सेवा या सामग्री का उपभोग करते हैं। यही बात पेड़-पौदों के विषय में भी कही जा सकती है।

हां, जड़-समुदाय के विषय में अवश्य शंका की जा सकती है, परन्तु सूक्ष्म-दृष्टि से देखने पर पता लगेगा कि परस्पर भोग्यत्व या अन्योन्याश्रयत्व वहां भी विद्यमान है। जिस प्रकार पेड़-पौदे हमारी सिञ्चनादि सेवाओं तथा हमारे शरीर-प्रसूत

कार्बनडायक्साइड आदि को भोगते हैं, उसी प्रकार पेड़-पौदे हमारी सिञ्चनादि सेवाओं तथा हमारे शरीर से उद्भूत मल-मूत्र आदि से उपकृत होते हैं। अतः सिद्धान्ततः मनुष्येतर जड़-चेतन समुदाय से भी हमारा किसी न किसी प्रकार का सामाजिक सम्बन्ध मानना ही पड़ेगा, चाहे यह अखिल विश्व-समाज का समाजत्व उतना प्रस्फुटित न हो, जितना मानव-समाज का।

समाज क्या है ?

समाज के विषय में अब तक जो कहा गया है उससे समाज के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश पड़ चुका है। हमने देखा कि समाजत्व का मूलाधार व्यक्तियों का पारस्परिक सम्पर्क तथा सम्बन्ध है, जो अन्योन्याश्रयत्व या अन्योन्यभोग्यत्व के रूप में होता है; समाजत्व यथार्थतः किसी समूह के आचरण या व्यवहार की समष्ट्यन्त प्रवृत्ति है, जो अपने आत्यन्तिक रूप में उस समूह के घटकों के निर्भय, सज्ञान तथा निर्विरोध एकमत में व्यक्त होती है; दूसरे शब्दों में समाजत्व का सार है समूह के विभिन्न घटकों का 'एकत्व' में बँधना, उसके बहुस्वरीय संगीत का एकस्वरीय में परिणित होना, अनेकता में एकता की उपलब्धि। इसका अर्थ यह है कि समूह के घटकों में एक प्रकार से एकता उतनी ही ध्रुव सत्य है, जितनी अनेकता; अन्यथा न तो एकता की उपलब्धि ही हो सकती है और न उसके लिये प्रवृत्ति ही।

एकता की भावना हमें दूसरों में 'अपनापन' ढूँढने को विवश करती है; अनेकता की भावना हमें अपने को दूसरों से पृथक देखने के लिये विवश करती है। भौतिक दृष्टि से हम अनेक तो हैं ही; हमारे शरीर पृथक पृथक हैं, हमारे अस्तित्व भिन्न हैं; परन्तु फिर भी चक्षु, श्रोत्र आदि हमारे अस्तित्व में अपने भिन्न बाह्य अस्तित्वों में चाक्षुष, श्रौत्र आदि विषयों के रूप में 'अपनापन' खोजते हैं और उसको पाकर पुलकित होते हैं। जहां अहंकार, स्वार्थ आदि के रूप में हम में भेद-बुद्धि प्रकट होती है, वहां स्नेह, करुणा आदि के रूप में हमारी अभेद-बुद्धि भी व्यक्त होती है। जब बच्चे को अपने 'अहम्' का बोध होता है, उससे भी पहले नहीं तो साथ-साथ ही लिप्सा, भूख, प्यास आदि के रूप में व्यक्त होने वाली वह रागात्मिका वृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है, जो बाह्य जगत् में 'अपनेपन' की खोज करती है, 'आत्मत्व' को ढूँढती फिरती है और बाह्य-जगत् के साथ अन्योन्याश्रयत्व या अन्योन्यभोग्यत्व का सम्बन्ध स्थापित करती फिरती है।

अतएव समाजत्व के मूल में यथार्थतः वह रागात्मिका वृत्ति है, जो हमारी स्थूल भौतिक अनेकता में मूलभूत सूक्ष्म आध्यात्मिक (?) एकता की खोज करती है। इसीलिये समाज को हम उसके विभिन्न घटकों का पारस्परिक सम्पर्कजन्य वह आध्यात्मिक सम्बन्ध कह सकते हैं, जो इसी स्वाभाविक रागात्मिका वृत्ति के कारण तथा परिणाम-स्वरूप उनके (घटकों

के) अन्योन्याश्रयत्व या अन्योन्यभोग्यत्व के रूप में व्यक्त होकर किसी समूह के समष्ट्यन्त आचरण का कारण बनता है और घटकों की अहमहमिका को अभिभूत करके उस समूह को 'एकोऽहम्' की भांति व्यवहार करने में समर्थ करता है। समूह के 'एकोऽहम्' होने में जहां उसके घटकों के भिन्न स्वार्थ बाधक होते हैं, वहां यह सुविधा भी है कि ये घटक परस्पर अपने-अपने मत को व्यक्त कर सकते हैं, एक दूसरे को समझ सकते हैं; परन्तु जब हम मानव-समाज को पार करके 'विश्व-समाज' में आते हैं, तो यह 'सुविधा' भी क्रमशः कम होती जाती है। अतः जब कि मानव-समाज के घटक अपने अपने आचरण के लिये स्वयं उत्तरदायी समझे जा सकते हैं, विश्व-समाज के घटकों में सारा उत्तरदायित्व मानव-समाज पर ही पड़ता है, विश्व-समाज का 'समाजत्व' 'गूँगा' एवं लँगड़ा होने के कारण समाजशास्त्र का उस अर्थ में विषय नहीं हो सकता, जिसमें कि मानव-समाज।



(ख) व्यक्ति का नाम-रूप

व्यक्ति

समाजशास्त्र में जो महत्व 'व्यक्ति' शब्द को प्राप्त है, वह अन्य किसी शब्द को न होगा—संभवतः 'समाज' को भी नहीं। अतः समाजशास्त्र स्वभावतः जानना चाहता है कि 'व्यक्ति क्या है ?' इस प्रश्न का उत्तर जाने बिना समाज के अध्ययन का प्रयत्न नितांत हास्यास्पद होगा। यद्यपि इस प्रश्न के उत्तरों की कमी नहीं है (और उनमें से बहुतेरे विश्वसनीय भी हो सकते हैं) परन्तु उनमें से ऐसा कोई नहीं प्रतीत होता, जो व्यक्ति के समाजशास्त्रीय स्वरूप को यथोचित चित्रित कर सके। ऐसी अवस्था में (और वैसे भी) यह अधिक अच्छा होगा कि साधारण-जन 'व्यक्ति' का जो अर्थ समझता है, उसी को लेकर आगे बढ़ा जाय।

जब हम बोलचाल में कहते हैं कि 'एक व्यक्ति जा रहा है' 'एक व्यक्ति नदी में कूद गया', 'एक लम्बे व्यक्ति को बुलाओ' इत्यादि, तो साधारण-जन का ध्यान सर्व प्रथम किसी मानव-शरीर पर जाता है—उसके लिये मनुष्य-शरीर ही व्यक्ति है। वैज्ञानिक दृष्टि से इस शरीर में चार प्रकार के पदार्थ हैं—पिण्डीय, द्रवीय, गैसीय (वायव्य) और वैद्युत; शरीर इन्हीं चारों का संघात है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार कि यह

यह दृश्यमान जगत्। परन्तु, स्थूल-जगत की भांति ही यह 'व्यक्ति' भी जड़ संघात-मात्र ही हो, तो समाजशास्त्र का इससे कुछ भी काम नहीं चल सकता; इस प्रकार का संघात तो रेल का एंजिन भी होता है, पर क्या व्यक्ति और एंजिन में कोई भेद नहीं है ?

घोर भौतिकवादी* तो मानव-शरीर को एक यंत्र ही मानते हैं, अतः उनकी दृष्टि में मनुष्य की क्रियायें भी यांत्रिक हैं और इस प्रकार वह एंजिन आदि यंत्रों से भिन्न नहीं हो सकता। परन्तु, सूक्ष्म विचार करने पर एंजिन एवं मनुष्य का सादृश्य बहुत दूर तक नहीं जा सकता। यह तो ठीक है कि मनुष्य की भांति एंजिन भी 'क्रिया' करता है और उसकी 'क्रिया' के भी पीछे एक 'प्रेरणा' तथा आगे एक लक्ष्य रहता है; परन्तु एंजिन के विपरीत मानव में यह प्रेरणा उसकी अपनी होती है और उससे प्रेरित, क्रिया का जो 'लक्ष्य' होता है, वह भी उसका निज का होता है, बाह्य नहीं। इस प्रकार मानव-क्रिया का 'प्रेरितत्व' जहां उसे इच्छा-शक्ति से संबद्ध करता है, वहां उसका सलक्ष्यत्व उसे ज्ञान-शक्ति से संयुक्त सज्ञान बना देता है। अतएव मानव-व्यवहार में क्रिया-शक्ति के साथ साथ इच्छा और ज्ञान—

---

*दे० J. Loeb, "The Mechanistic conception of life, Cambridge University press, 1912); G. B. Watson, Psychology from the stand point of a Behaviourist, 1919); L. T. Hogben, " Principles of Animal Biology".

शक्तियां भी इसकी निज की रहेंगी, परन्तु अन्त्र में ऐसा संभव नहीं।

साधारणतया देखने पर मनुष्य-शरीर में भी ऐसी क्रियायें हैं, जो सज्ञान नहीं प्रतीत होतीं। निमिषण, पाचन, रक्त-संचरण आदि ऐसी क्रियायें हैं, जिनको हम 'सज्ञान' नहीं कहते। परन्तु ध्यान से देखने पर पता लगेगा कि ये क्रियायें उसी वर्ग की हैं, जिसकी हमारी 'सज्ञान' क्रियायें; अन्तर केवल इतना ही है कि जिस प्रकार बच्चे का 'सज्ञान' चलना आदत पड़ जाने पर 'सहज' सा हो जाता है, उसी प्रकार ये तथाकथित 'सहज' अथवा 'अज्ञान' क्रियायें गर्भावस्था में ही ग्रहण की हुई आदतें हैं। यदि हम अपनी मानसिक क्रियाओं को भी भौतिक घटनाओं की भांति प्रत्यक्ष कर सकते, तो हमें स्पष्ट हो जाता कि यद्यपि ये क्रियायें देखने में भिन्न लगती हैं, परन्तु यथार्थ में ये दोनों ही समान हैं। दूसरे शब्दों में, यांत्रिक क्रियाओं से इनकी यही भिन्नता है कि इनमें प्रेरणा और लक्ष्य है, इच्छा और ज्ञान है; और इन क्रियाओं में परस्पर यही भेद है कि जिन जिन साधनों से यह प्रेरणा काम करती है और जिन जिन लक्ष्यों की ओर वह इन्हें ले जाती है, वे सब क्रियाओं में एक से नहीं होते।

चित् की अभिव्यक्ति

इन प्रेरणात्मक क्रियाओं का वर्णन करते हुये मेकडूगल लिखते हैं कि इस प्रकार की क्रिया एक शक्ति का अभिव्यक्तीकरण है और इसके मूल तथ्य निम्नलिखित हैं—

(१) शक्ति का अभिव्यक्तीकरण ऐसी दिशाओं में 'प्रेरित' होता है कि शरीरी (Organism) अपने लक्ष्य को प्राप्त करलें।

(२) यह प्रेरणा एक प्रकार की ज्ञानात्मक क्रिया द्वारा होती है।

(३) ज्ञानात्मक क्रिया द्वारा प्रेरित तथा मार्गारूढ़ होकर यह क्रिया तब तक सक्रिय रहती है, जब तक लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो जाती।

(४) लक्ष्य की ओर प्रगति अथवा उसकी प्राप्ति सुखद अनुभूति प्रदान करती है। उसकी प्राप्ति में बाधा अथवा उसकी अप्राप्ति होने से दुखद अनुभूति मिलती है। अतएव व्यक्ति को पिण्डीय, द्रवीय, गैसीय तथा वैद्युत पदार्थों का संघात भर ही नहीं कह सकते: वह उन चारों का ऐसा संघात है, जिसमें सज्ञान एवं सलक्ष्य क्रियायें होती हैं और साथ में सुख-दुःखादि की अनुभूतियां भी। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति के चतुष्टय-संघात को इस प्रकार के अन्य संघातों से पृथक करने वाली विशेषता यह है कि इसमें जो क्रिया शक्ति है वह सुख-दुःखात्मिका इच्छा शक्ति एवं संकल्प-विकल्पात्मिका ज्ञान-शक्ति की सहचरी होती है।

वस्तुतः व्यक्ति की मूल शक्ति 'चित्' है, जो ही इच्छा ज्ञान एवं क्रिया के त्रिविध में अभिव्यक्ति होती है। एक समय था जब किसी वैज्ञानिक चर्चा में चित् शक्ति की बात करना अक्षम्य अपराध समझा जाता था; प्रसन्नता की बात है कि

अब आधुनिक विज्ञान भी इसके अस्तित्व को स्वीकार करने लगा है। जगदीशचन्द्र बसु के प्रसिद्ध आविष्कार के पश्चात् ही एक शरीर शास्त्री डा० रसेल ने लिखा—

"अशरीरीय (inorganic) इकाइयाँ और जीवधारी व्यक्तियों में प्रमुख अन्तर यह है कि सभी जीवधारियों की क्रियाओं का कोई न कोई लक्ष्य होता है; शरीरीय (organic) जगत् में सारी क्रियायें ऐसी चलती हैं, मानो कोई जीवधारी प्रयत्न कर रहा हो?"

डा० हाल्डन* के मतानुसार तो केवल जीवधारियों या शरीरियों में ही नहीं, अपितु अशरीरीय जगत् में भी किसी न किसी प्रकार का सचेतन व्यवहार होता है। अतः चित् शक्ति के व्यवहार रूप में व्यक्तीकरण होने के कारण ही व्यक्ति 'व्यक्ति' है। यह व्यक्तीकरण सृष्टि में एक सा नहीं है, क्योंकि जिस यन्त्र (शरीर का पिण्ड) द्वारा यह व्यक्तीकरण होता है, वह भिन्न भिन्न है। मानव-शरीर संभवतः सब से अधिक विकसित है,

---

*"... In spite of superficial appearances some thing of Conscious behaviour must in reality be present behind what appears to us as the more blind organic behaviour of lower organisms or plants... ... ... what appears to be the more mechanical behaviour of the inorganic world"

(The Seience and Philosophy p. 344.)

अतएव उसके व्यवहार में 'चित्' का व्यक्तीकरण समाजशास्त्रीय दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट और जटिल है।

व्यक्ति का व्यवहार

मानव-व्यवहार में भी 'चित्' का व्यक्तीकरण सर्वत्र एकसा नहीं है। मानव-व्यक्तित्व में कई स्तर हैं और इनमें से प्रत्येक स्तर पर भिन्न भिन्न प्रकार का व्यक्तीकरण होता है। इसका स्थूलतम स्तर तो यही अन्नमय शरीर है, जिसको ऊपर पिंडीय द्रवीय, गैसीय एवं वैद्युत पदार्थों का संघात कहा गया है। यों तो इस स्थूल स्तर के इन चार क्षेत्रों में भी 'चित्' का व्यक्तीकरण भिन्न भिन्न प्रकार का है, परन्तु इन सभी में होने वाले व्यवहार या क्रिया-कलाप को हम एक व्यापक नाम 'परिश्रम' दे सकते हैं। इस परिश्रम के अन्तर्गत श्वसन, निमिषण, धड़कन फड़कन आदि की गति से लेकर पढ़ने-लिखने, चलने फिरने की क्रिया तथा मजदूर की मेहनत एवं कारीगर की कमाई आदि भी आजाती है। बाह्य-जगत् से सम्पर्क और सहयोग, जो सामाजिक जीवन का मुख्य अङ्ग है, इनके बिना सम्भव नहीं। इस 'परिश्रम' को प्रेरित करने वाले तथा इसकी गतियों, क्रियाओं (प्रयत्नों) श्रमों और शिल्पों को प्रादुर्भूत करने वाले संकल्प विकल्प, विचार-विवेक, मनन-चिन्तन आदि का व्यवहार इस स्थूल स्तर से कहीं गम्भीर एवं सूक्ष्म स्तर की वस्तु है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार हमारे भीतर ज्ञानशक्ति (cognition) का जो भी मनोमय खेल चलता रहता है, वह सब इसी के

अन्तर्गत आ जाता है। विचार-जगत के इस मानव-व्यवहार को हम 'शची' कह सकते हैं। इससे अधिक सूक्ष्म, प्रभावशाली और गहन स्तर एक और है, जिसे भाव-जगत् कह सकते हैं, जिसके अन्तर्गत क्षणिक संचारियों से लेकर स्थायीभाव एवं रस तक इच्छा शक्ति की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति आ जाती है। इस भावात्मक व्यवहार को हम 'शमी' नाम से पुकारेंगे।

ऊपर मानव-व्यवहार में अभिव्यक्त जिन तत्त्वों का उल्लेख किया गया है, वे क्रमशः क्रिया, ज्ञान एवं इच्छा के रूपांतर मात्र प्रतीत होंगे। वस्तुतः परिश्रम, शची और शमी में क्रमशः क्रिया, ज्ञान एवं इच्छाशक्ति की प्रधानता तो है, परन्तु न तो यही है कि उनमें से किसी में भी क्रियादि में से किसी का अभाव हो और न यही है कि परिश्रमादि में से कोई भी क्रियादि में से केवल एक का रूप या रूपांतर मात्र हो। क्रिया ज्ञान और इच्छा तो न्यूनाधिक रूप में मानव-व्यवहार के प्रत्येक स्तर पर वर्तमान हैं, और यह मानव-व्यवहार क्रमशः शमी शची तथा परिश्रम रूप में प्रकट होता है–शची परिश्रम का और शमी शची का पूर्वरूप है; परिश्रम रूप में जो मानव-व्यवहार व्यक्त होता है, वही पहले शची रूप में और उससे भी पहले शमी रूप में रहता है। जैसा कि पहले कह चुके हैं, परिश्रम रूप व्यवहार ही स्थूलतम है; अतः इसी का प्रत्यक्ष एवं इदमित्थात्मक अध्ययन हो सकता है।

बाह्यतम एवं प्रत्यक्षतम मानव-व्यवहार (परिश्रम) स्वयं भी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया की प्रधानता या गौणता की दृष्टि

से त्रिविध होता है—(१) इच्छा-प्रधान परिश्रम, जो व्यक्तिगत हर्ष-विमर्षादि, पारिवारिक सुख-दुःखादि एवं सामाजिक उत्सव आदि के रूप में व्यक्त होता है। (२) ज्ञान- प्रधान परिश्रम, जो व्यक्तिगत विचार-चिन्तन, पारिवारिक योजनाओं तथा साहित्य, कला, ज्ञान-विज्ञान के सामाजिक प्रयत्नों में व्यक्त होता है। (३) क्रिया-प्रधान परिश्रम, जो व्यायामादि व्यक्तिगत क्रियाओं, भोजन पकाने, शिशु-पालन आदि पारिवारिक क्रियाओं, नहर का खोदना, फैक्टरी चलाना आदि सामाजिक क्रियाओं के रूप में व्यक्त होता है। यदि इन तीनों का पृथक पृथक विश्लेषण किया जाये तो इनमें से प्रत्येक के पीछे मानव-व्यवहार की अनेक क्रियायें और प्रतिक्रियायें मिलेंगी।

समाज की इकाई

समाज में ऐसे ही व्यक्तियों का जमघट है। परन्तु समाज का समाजत्व, जैसा कि पहले कह चुके हैं, व्यक्तियों के जमघट मात्र में तो है नहीं; यहां तो उन्हें समाज के प्राप्न, संग्रहण, वितरण तथा संगठन क्रियाओं में योग देना पड़ता है। क्या सभी व्यक्ति समाज की इन क्रियाओं में समान रूप से योग दे सकते हैं या देते हैं ? ध्यान से सोचने पर इस प्रश्न का उत्तर नकारात्मक ही मिलेगा। समाज के सभी व्यक्ति इन क्रियाओं में समान योग नहीं देते, क्योंकि सब में समान सामर्थ्य नहीं है। जैसा आगे देखेंगे समाज के व्यवहार या आचरण में 'संग्रहण' पर ही प्राप्न, वितरण तथा संगठन अवलम्बित है।

'संग्रहण' के अन्तर्गत न केवल उत्पादन अपितु प्रजनन एवं शिशुपालन भी आता है। यदि 'संग्रहण' को ही उदाहरण के लिये ले लें तो हम देखेंगे कि 'बच्चा' का प्रजनन या पालन आदि में लगभग उतना ही योग है, जितना सामग्री का उत्पादन में—बच्चे और सामग्री लगभग समान रूप से ही निष्क्रिय तथा अज्ञान योग मात्र दे सकते हैं। व्यक्ति का जो स्वरूप ऊपर दिखलाया गया है, उसके अनुसार बच्चे भी व्यक्ति हैं, परन्तु समाज के 'संग्रहण' में सक्रिय एवं सज्ञान योग नहीं है, जितना वयस्क व्यक्तियों का।

वयस्क व्यक्तियों में भी इस दृष्टि से भेद मिलेगा। जो दम्पती न केवल 'सामग्री एवं सेवाओं' के उत्पादन में समाज का योग देते हैं, अपितु सन्तान के प्रजनन एवं पालन में भी योग दे रहे हैं, वे समाज के 'संग्रहण' में पूर्ण सहयोग दे रहे हैं, और उनका सहयोग सर्वथा सक्रिय तथा सज्ञान है। अतः 'संग्रहण' की दृष्टि से दम्पती का संयुक्त व्यक्तित्व ही एक सामाजिक इकाई माना जायेगा; बच्चे, अविवाहित, अशक्त आदि व्यक्ति इस दृष्टि से समाज की इकाई नहीं हो सकते, क्योंकि 'संग्रहण' के अन्तर्गत जो भी समाज का व्यापार आता है, उसमें इनका सक्रिय हाथ नहीं है।

वर्तमान सभ्यता आज सबसे बड़ी भूल यही कर रही है कि वह समाज के आर्थिक क्षेत्र (सामग्री तथा सेवाओं के उत्पादन क्षेत्र)—जो हमने संग्रहण के अन्तर्गत लिया है—में व्यक्ति

को ही इकाई मान बैठी है। भारतीय सभ्यता के अनुसार स्त्री पुरुष का संयुक्त व्यक्तित्व ही इस क्षेत्र में इकाई माना जाता था। स्त्री-पुरुष के प्राकृतिक सम्बन्ध पर आश्रित यह भारतीय मत ही तब तक वैज्ञानिक प्रतीत होगा जब तक मनुष्य सन्तान को भी अन्य सामग्री की भांति कारखानों में बनाने-बिगाड़ने नहीं लगता। अतः जब हम सामाजिक 'संग्रहण' में कोई सुधार करते हैं, तो यह आवश्यक है कि हम अपनी योजना में इस संयुक्त-व्यक्तित्व की इकाई विषयक अनिवार्य्यता को ध्यान में रक्खें।

मेरे उक्त कथन से यह अभिप्राय कदापि नहीं कि सामाजिक व्यवहार के किसी भी क्षेत्र में 'व्यक्ति' समाज की इकाई नहीं है। आध्यात्मिक क्षेत्र में तो स्त्री-पुरुष या बाल-वृद्ध का कोई भेद ही नहीं है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि से तो व्यक्ति को इकाई माने बिना एक पग भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता।



(ग) व्यक्तियों से समाज बनता है ?

प्रायः कहा जाता है कि व्यक्तियों से समाज बनता है, परन्तु इस कथन के अभिप्रायः को संभवतः पूरी तरह से सब नहीं समझ पाते। यदि इस कथन का तात्पर्य यह लिया जाय कि व्यक्तियों का समूह ही समाज है, तो यह पूर्ण सत्य न होगा, क्योंकि इसके अनुसार तो भीड़ को भी समाज कहा जायेगा। इसी प्रकार यदि इस कथन का अर्थ यह लगायें कि व्यक्तियों ने जान बूझ कर और सोच समझ कर समाज का निर्माण किया और फलतः इतिहास में मनुष्य कभी बिना समाज के भी रहा होगा, तो भी भारी भूल होगी, क्योंकि इतिहास ऐसे किसी समय की कल्पना नहीं कर सकता, जब व्यक्तियों ने एक स्थान पर बैठ कर समाज बनाने का संकल्प किया हो और न वह ऐसे ही युग को जानता है, जब मानव समाज से रहित रहा हो। अतएव जब समाजशास्त्र का विद्यार्थी इस कथन को स्वीकार करेगा, तो वह इसको एक निश्चित एवं नियत अर्थ में ही करेगा। समाजशास्त्र में इस कथन का यही अभिप्राय होगा कि व्यक्ति में कुछ ऐसी स्वाभाविक विशेषतायें हैं, जिनके कारण समाज का निर्माण स्वतः ही हो जाता है। अब प्रश्न उठता है कि ऐसी विशेषतायें कौनसी हैं।

व्यक्ति की इन विशेषताओं को जानने के लिये यह जानना आवश्यक है कि वह समाजत्व क्या है, जिसके निर्माण में

व्यक्तियों की इन विशेषताओं का उपयोग होता है। स्पष्टतः समाजत्व का मूल-तत्त्व है अन्योन्याश्रयत्व। इस अन्योन्याश्रयत्व का स्थूलतम आधार है व्यक्तियों का श्रम। व्यक्ति अपने स्थूल-शरीर के विभिन्न अंगों से श्रम को व्यक्त करता है, जो विभिन्न 'सेवाओं एवं सामग्रियों' के रूप में मूर्त्त होकर अन्य व्यक्तियों के द्वारा भोग्य होता है। जिस प्रकार परिवार में पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मां-बेटे और भाई-बहिन आदि का जो भी अन्योन्याश्रयत्व है उसके स्थूलतम स्वरूप का आधार यही श्रम है, उसी प्रकार समाज के विभिन्न अंगों में—सरकार और प्रजा में, मजदूर और मैनेजर में, सैनिक और किसान में, अन्योन्याश्रयत्व का स्थूलतम स्वरूप श्रम पर ही आश्रित है।

परन्तु व्यक्ति का प्रत्येक श्रम अन्योन्याश्रयत्व का आधार नहीं बनता। हमारे साधारण उठने-बैठने दर्शन-स्पर्शन तथा निमेषोन्मेष में भी कुछ न कुछ श्रम होता है,परंतु यह श्रम सामाजिक अन्योन्याश्रयत्व का आधार नहीं बनता। वस्तुतः इसीलिये हम इसको श्रम न कहकर केवल क्रिया ही कहते हैं; किसी भी क्रिया को समाज-शास्त्रीय दृष्टि से श्रम तभी कहा जायेगा, जब वह समाज (दूसरे व्यक्तियों) के लिये किसी 'सेवा या सामग्री' का निर्माण कर सके। अतएव क्रिया को श्रमत्व प्रदान करने वाली कोई अन्य शक्ति है, जो क्रिया-शक्ति से भिन्न होनी चाहिये। यह है व्यक्ति की इच्छा-शक्ति और ज्ञान-शक्ति। जहां इच्छा-शक्ति के द्वारा व्यक्ति बाह्य-जगत के साथ अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित

करने को विवश हो जाता है, वहां उसकी ज्ञान-शक्ति इस रागात्मक सम्बन्ध को क्रियात्मक रूप प्रदान करके इच्छा तथा क्रिया शक्तियों को श्रम रूप में एकत्व प्रदान करती है। उदाहरण के लिये, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, गुरु-शिष्य आदि के पारस्परिक सम्बन्ध में जो क्रिया श्रम के रूप में प्रकट होती है, उसको जहां एक ओर मानव की इच्छा शक्ति द्वारा प्रसूत स्वाभाविक स्नेह प्रेरित करता है, वहां पारस्परिक सहयोग से तात्कालिक या भावी, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वार्थ-पूर्ति अथवा विभिन्न परिस्थितियों एवं वातावरण का ज्ञान भी इसे संभव करता है। अतएव क्रिया को श्रमत्व प्रदान करने वाली इच्छा एवं ज्ञान-शक्तियां ही हैं।

इच्छा, ज्ञान और क्रिया-शक्तियों को यहां पृथक पृथक सा माना गया है, परन्तु वस्तुतः तीनों संयुक्त होकर काम करती हैं और फलतः व्यक्ति के प्रत्येक व्यवहार में तीनों ही रहती हैं, यद्यपि कभी इच्छा की प्रधानता होती है, कभी ज्ञान की और कभी क्रिया की। वस्तुतः ये तीनों हमारी चित् (consciousness) शक्ति के ही तीन पक्ष हैं, जो हमारे विविध श्रम के रूप में व्यक्त होते हैं। व्यक्ति जब बाह्य जगत के सम्पर्क में आता है तो बाह्य जगत व्यक्ति के 'चित्' को प्रभावित करता है, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपनी 'प्रतिक्रिया' को बाह्य-जगत् के प्रति व्यक्त करना चाहता है; यही व्यक्तीकरण इच्छा-प्रधान, ज्ञान-प्रधान या क्रिया-प्रधान श्रम के रूप में प्रकट होता है—यही हमारे

अन्योन्याश्रयत्व या समाजत्व का मूल कारण है। अतएव समाजत्व का मूलाधार व्यक्ति की यही चित् शक्ति है, जो उक्त त्रिविध श्रम के रूप में व्यक्त होकर वाह्य-जगत् से अपना संबंध स्थापित करती है। व्यक्ति की यह विशेषता (चित् शक्ति) अनादि है; वस्तुतः इसी के व्यक्तीकरण से व्यक्ति 'व्यक्ति' है; अतः मूलतः यही शक्ति समाजत्व की सृष्टि करती है।

यदि वाह्य-जगत् से संपर्क-स्थापना को ही व्यक्ति का आदिम सामाजिक व्यवहार मानलें, तो अमाइवा (amoeba) का सामाजिक व्यवहार अत्यन्त इच्छा-प्रधान संकल्प-विकल्पात्मक सज्ञान आचरण रहित केवल सहज (instinctive)—आचरण ही प्रतीत होगा। इसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार यथार्थतः सारे पशु-वर्ग में पाया जाता है; अधिक विकसित पशु जीवन में अन्तर केवल इतना हो जाता है कि इच्छा शक्ति का राग-विरागात्मक द्विधाकरण अधिक स्पष्ट हो जाता है और राग-विरागात्मक सहज व्यवहार के क्षेत्रों का क्रमशः विस्तार तथा उसके कार्य-काल का उत्तरोत्तर संकोच होता जाता है। सामाजिक दृष्टि से अत्यधिक विकसित दीमकों या चींटियों तक में हमारा सामाजिक व्यवहार राग-विरागात्मक सहज प्रवृत्तियों (instincts) पर ही अवलम्बित होता है; और इस प्रकार का सामाजिक व्यवहार जहां कुछ पशुओं (जैसे चींटियों) में जीवन पर्यन्त चलता है, कुछ में (जैसे गाय आदि में) वह संपर्क की एकक्षेत्रीय घनिष्टता होने पर प्रकट होता है। इसका कारण संभवतः विवेक और तर्क का अस्पष्ट तथा

धुँधला उदय ही है। मानव-जीवन में तर्क, विवेक, विचार आदि ज्ञान-शक्ति के व्यापार अत्यधिक विकसित हो जाते हैं, अतएव उसका सामाजिक व्यवहार भी इच्छा-शक्ति-प्रधान सहज-प्रवृत्तियों से बहुत कम नियंत्रित होता है; उसका सामाजिक व्यवहार प्रायः पूर्णरूपेण ज्ञान-प्रधान होता है। वनस्पति तथा खनिज जगत् का सामाजिक व्यवहार केवल क्रिया-प्रधान होता है और प्राणिवर्गों के विपरीत इनका सामाजिक व्यवहार (बाह्य जगत् से संपर्क) प्रायः परमुखापेक्षी तथा बाह्य जगत् के व्यवहार पर आश्रित होता है।

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड के विभिन्न स्तरों का सामाजिक व्यवहार क्रमशः इच्छा-प्रधान, ज्ञान-प्रधान तथा क्रिया-प्रधान है, उसी प्रकार हमारे पिण्डाण्ड में भी मिलेगा। हमारे स्थूल शरीर में क्रिया-प्रधान श्रम हमारे सामाजिक व्यवहार का आधार है तो सूक्ष्म-शरीर में ज्ञान-प्रधान श्रम तथा कारण-शरीर में इच्छा-प्रधान श्रम पर हमारा सामाजिक व्यवहार आश्रित होता है। परन्तु पिण्डाण्ड का यह सारा सामाजिक व्यवहार वस्तुतः क्रिया-प्रधान स्तर पर आकर ही व्यक्त हो सकता है, अन्यथा वह सामाजिक व्यवहार की संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकता। हमारा इच्छा-प्रधान सामाजिक व्यवहार परिष्वजन चुम्बन से लेकर काव्य, संगीत, चित्र आदि के श्रम में व्यक्त होता है, तो ज्ञान-प्रधान व्यवहार, दर्शन, गणित, विज्ञान, तर्क-वितर्क आदि में तथा क्रिया-प्रधान व्यवहार मजदूरों की मेहनत

सैनिकों के युद्ध-कार्य, पहलवानों की कुश्ती आदि में व्यक्त होता है। यह सभी प्रकार का व्यवहार व्यक्ति अन्य व्यक्तियों तक पहुंचाने तथा उससे उन्हें प्रभावित करने के उद्देश्य से करता है; वस्तुतः इसी में व्यवहार की सामाजिकता निहित है। प्रत्येक व्यक्ति इसी प्रकार अपने व्यवहार को दूसरे तक पहुंचाना तथा उससे प्रभावित करना चाहता है और न्यूनाधिक ऐसा करने की क्षमता रखता है. इसीलिये वह उक्त त्रिविध श्रम द्वारा समाज सृजन करने में समर्थ होता है। अतएव समाज यथार्थतः व्यक्तियों के इसी प्रकार के सामाजिक व्यवहारों के समन्वय एवं सामंजस्य की सृष्टि है, जो उपर्युक्त त्रिविध श्रम पर आश्रित होते हैं।

परन्तु, दूसरे तक अपना व्यवहार पहुंचाने तथा उससे उसे प्रभावित करने की व्यक्ति में जो स्वाभाविक आकांक्षा तथा क्षमता है वही व्यक्ति का समाज के हाथ की कठपुतली बनाने में भी सहायक होती है। व्यक्ति का जो श्रम सामाजिक व्यवहार के रूप में प्रकट होता है, वह जन्म के समय से ही समाज (दूसरे व्यक्तियों) द्वारा प्रभावित होता रहता है, परिवर्तित होता रहता है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति का श्रम तो एक शक्तिमात्र है, जो 'पावर हाउस में संचित विद्युत शक्ति की भाँति है; परन्तु इसका विविध रूपों में प्रकट होना उन विविध उपकरणों पर निर्भर है, जिनके संपर्क में वह आती है। जिस प्रकार कि 'पावर हाउस' की विद्युत लैम्पों में जाकर प्रकाश करती है, एञ्जिन में

आकर किसी मशीन को चलाती है और रेडियो में ध्वनि-रूप ग्रहण करती है, इसी प्रकार व्यक्ति की प्रकृत-शक्ति समाज के विभिन्न व्यक्तियों के संपर्क में आकर विशेष क्रियाओं, विचारों और भावों का (सामाजिक व्यवहार का) रूप ग्रहण करता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति का सामाजिक व्यवहार उसका निज का नहीं, समाज की कृति है– उसके भाव, विचार और क्रियायें समाज द्वारा ही विशेष प्रकार के सांचे में ढाल दी गई है। व्यक्ति केवल शक्ति रूपी कच्चा माल उपस्थित करता है, परन्तु उसको रूप-विशेष देना समाज का काम है—अन्य व्यक्तियों के संसर्ग तथा प्राकृतिक परिस्थितियों के प्रभाव का परिणाम है। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि इस अर्थ में व्यक्ति को समाज बनाता है।



(३) प्राणन—यज्ञ

(क) प्राणन

समाज और व्यक्ति के विषय में जो विवेचन हो चुका है, उससे स्पष्ट है कि व्यक्तियों के समूह को समाजत्व प्रदान करने वाली कुछ विशेषताएँ हैं जो व्यक्ति में रहती हैं। इन विशेषताओं पर विचार करते हुये हमने देखा, कि इनका मूल आधार श्रम है; श्रम के द्वारा अभिव्यक्त हुई व्यक्तिगत विशेषतायें ही सामाजिक अन्योन्याश्रयत्व की सृष्टि करती हैं। इसी श्रम के अंतर्गत समाज के वे सारे तत्त्व आ जाते हैं, जिन्हें ऊपर संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण कहा गया है और जिनको प्राणन के ऊपर आश्रित कहा गया है। अतएव श्रम का मूलाधार भी यही 'प्राणन' है।

प्राणन को ऊपर 'जीने की क्रिया' कहा गया है। 'जीना' स्वयं एक अस्पष्ट शब्द है और वैज्ञानिक विवेचन के काम का नहीं है; परन्तु फिर भी 'जीने की क्रिया' से इतना तो स्पष्ट ही हो जाता है कि इस क्रिया से युक्त व्यक्ति एक ओर तो ईंट, पत्थर आदि 'बेजान' वस्तुओं, से तथा दूसरी ओर 'जानदार' के मुर्दा शरीरों से भिन्न होता है। यदि ध्यान से देखा जाय, तो यह प्राणन या 'जीने की क्रिया' उस शक्ति से भिन्न नहीं है

जिसे ऊपर 'चित्' कहा गया; और जिसके कारण ही शरीरीय अशरीरीय पिण्डों से भिन्न हैं।

प्राणन के व्यापार को वैदिक-दर्शन में तथा तदाश्रित भारतीय दर्शन में यज्ञ के रूपक द्वारा बड़े सुन्दर ढंग से व्यक्त किया गया है, जिसको समझने से न केवल आधुनिक समाज-शास्त्र को एक नवीन दृष्टिकोण मिल सकता है, अपितु भारतीय समाज के निर्माण तथा विकास को भी सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है। परन्तु, प्राणन-यज्ञ को समझने के लिये, सर्व प्रथम यह आवश्यक है कि यज्ञ के विषय में जो भ्रान्त कल्पनायें बनी हुई हैं, उनको दूर करके यज्ञ की वैदिक कल्पना को समझ लिया जाय।

(ख) यज्ञ की कल्पना

जब गीता में बताया गया कि सारी प्रजायें (प्राणिमात्र) यज्ञ के साथ उत्पन्न हुईं (सहयज्ञाः प्रजाः सृष्टाः), तो स्पष्टतः ही यज्ञ से अभिप्राय किसी सहज क्रिया से था। परन्तु, हम आज जिसे यज्ञ कहते हैं, वह कुछ और ही है।

साधारणतया आज प्रत्येक हिन्दू यज्ञ को एक पवित्र काम समझता है और इसीलिये प्रत्येक पवित्र काम को वह यज्ञ कहता है; परन्तु इतिहास एक ऐसे यज्ञ को भी जानता है जिसका सम्बन्ध रक्तपात, पशुहिंसा और स्वार्थसिद्धि से था; इसी प्रकार के यज्ञ करने वाले 'वेदवादरताः' की निन्दा श्रीमद्भगवत-गीता में की गई है। बहुतसे लोग समझते हैं कि गीता द्वारा

निन्दित 'वेदवाद' और 'वैदिक धर्म' एक ही है, परन्तु यह भूल है। वेद में जो यज्ञ की कल्पना है वह इससे भिन्न है। वेद में जिस यज्ञ को सबसे अधिक महत्व दिया गया है वह तो मन से ज्ञातव्य है (अथर्ववेद ७, ५, २; ७, ५, ६) और केवल मूढ़ देव ही कुत्ते, गाय अथवा अन्य अनेक उपकरणों से यज्ञ करते हैं—

"मुग्धा देवा उत शुना यजन्तोतगोरंगैपुरुधायजन्तः।
यइमं यज्ञं मनसा चिकेत प्रणो वोचस्तमिहेह ब्रवः।"

यह यज्ञ हमारे शरीर में है—हमारे व्यक्तित्व के कण कण में समाया हुआ है (अथ. वे. ११, ८, २०, १०, २, १४)। वेद में यह बहुत बड़ा रहस्य माना जाता है; अतएव प्रायः प्रश्न होता है, "कि इस शरीर के भीतर यज्ञ को किसने निहित किया? (अ० वे० १०, २, ६) 'किस देव ने पुरुष के भीतर यज्ञको रक्खा?" अस्तु, हमारे लिये तो इससे भी अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है 'कि इस यज्ञ का स्वरूप क्या है? हमारे शरीर में होने वाला यज्ञ कौनसा है?'

पुरुष-यज्ञ

वेद में शरीर को 'अष्टचक्रा नवद्वारा' देवों की पुरी कहा जाता है (अथ० वे० १०, २, ३१), जिसमें वास करने के कारण ही ब्रह्म का 'पुरुष' नाम है (अथ० वे० १०, २, २८-३०)। हमारे शरीर में स्पर्शन, श्वसन, दर्शन, श्रवण आदि की शक्तियां ही 'अन्तः देवता हैं' जो अपने नाना कर्मों के रूप में यहां यज्ञ

कर्त्ता है (कौ० ब्रा० १७; ७, गो० ब्रा० ५, ४) अतएव ऋग्वेद यज्ञ का वर्णन करते हुए कहता है कि 'यज्ञ देवकर्म-रूपी तन्तुओं के द्वारा सर्वत्र फैला हुआ है (यो यज्ञो विश्वतस्तंतुभिस्ततः देव-कर्मभिरायतः) जिसको फैलाने और समेटने वाला यही पुरुष (ब्रह्म) है (पुमान् एन तनुत उत कृणत्ति)।

यज्ञ को स्वस्थ और सुरक्षित रखने के लिये दो प्रकार के साधन आवश्यक है—(१) होम और (२) संस्रावण (अथ० वे० १६, १, २;)। होम तो अग्नि में डाली हुई आहुति है और संस्रावण का अर्थ है 'सम्यक्-गति' या शक्ति संचरण। जठराग्नि में हम पुष्टिकर भोजन से होम करते हैं, जिसके फल-स्वरूप शरीर में शक्ति-संचरण (संस्रावण) होता है और गति उत्पन्न होती है। इस गति या शक्ति से ही पुनः जठराग्नि प्रदीप्त रहती है और यज्ञ-व्यापार बराबर चलता रहता है। इस होम तथा संस्रावण के संयोग पर ही बल देने के लिये ही 'संस्राव्य-हवि' द्वारा यज्ञ का होना बताया गया है (अथ० वे० १६, १, २)।

जठराग्नि में जिस 'संस्राव्य-हवि' की आहुति दी जाती है वह तो स्थूलतम है। हमारे शरीर में इससे सूक्ष्मतर सामग्री भी है, जिसकी आहुति द्वारा सूक्ष्मतर यज्ञ किये जाते हैं; उदा-हरणार्थ शरीर में प्राणमय मनोमय आदि यज्ञ भी हैं, जिनमें क्रमशः प्राणतत्त्व, मनस्तत्त्व आदि की आहुति उसी प्रकार लगती है, जिस प्रकार जठराग्नि के अन्नमय यज्ञ में अन्न की आहुति

की जाती है। इसी प्रकार के शरीरस्थ अनेक यज्ञों का वर्णन करते हुए, भगवद्गीता में कहा गया है—'इस प्रकार अनेक ढंग के यज्ञ ब्रह्म के मुख में प्रसार पाये हुये हैं; इन सबको कर्मज समझो' वस्तुतः शरीर के सारे यज्ञ एक ही व्यापक यज्ञ के अंगमात्र हैं, जिसको इस शरीर-रूपी पुर में वास करने वाले पुरुष (ब्रह्म) का यज्ञ कहा जाता है।

पुरुष-यज्ञ के अंगभूत इन अनेक यज्ञों का सूक्ष्म विश्लेषण करने से पता चलेगा कि ये दो प्रकार के यज्ञ हैं। एक तो वे यज्ञ हैं, जो भौतिक अंगों में सदस् (स्थान) बनाये हुए निरंतर चलते रहते हैं (जैसे रक्त-संचरण, अन्न-पाचन आदि कर्म)। इन्हीं को सदस् में होने के कारण, सत्र कहते हैं; दूसरे वे यज्ञ हैं जो किसी भौतिक अंग-विशेष में सीमित न रहकर उनमें अभिव्यक्त होते हुए भी उनके परे रहते हैं (जैसे दुःखादि की अनुभूतियां)। इनको भौतिक सदस् से परे होने के कारण उत्सन्न यज्ञ कहा है। पहले प्रकार के यज्ञ अपेक्षाकृत अधिक स्थूल और भौतिक हैं, जबकि दूसरे प्रकार के अधिक सूक्ष्म और आध्यात्मिक। सत्रों का स्रोत यदि अन्न, प्राण आदि भौतिक द्रव्य हैं, तो उत्सन्नों का मन आदि आध्यात्मिक शक्ति है। यद्यपि अन्ततोगत्वा इन दोनों प्रकार के यज्ञों का अवसान एक पुरुष या ब्रह्म में ही होता है (अथ० वे० ११, ६, ८), परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से उत्सन्नों में काम आने वाली शक्ति वस्तुतः पुरुष (आत्मा) से उद्भूत संज्ञावरण है, जबकि सत्रों में अन्न,

अन्न आदि हव्यों से उत्पन्न संस्थापन। दूसरे शब्दों में, उत्सन्नों में पुरुष ही हवि रूप में प्रयुक्त हो रहा है, तो सत्रों में अन्न आदि का हव्य काम आ रहा है। अथर्ववेद के अनुसार इन दोनों में प्रथम ही श्रेयस्कर (ओजीयः) है।

यत् पुरुषेण हविषा यज्ञं देवा अतन्वत,
अस्ति नु तस्मात् ओजीयो यत् विहव्येनेजिरे।

(अथ० वे० ७, ५, ४)

पुरुष-यज्ञ के इन दोनों रूपों का वर्णन ब्रह्मौदन तथा पञ्चौदन नाम से भी मिलता है। जिन शरीरस्थ यज्ञों को ऊपर सत्र कहा गया है, उनके सूक्ष्मतम रूप में भी जो ओदन (भात-हवि) होगा वह शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध भेद से पांच प्रकार का होगा; अतएव सूक्ष्मतम सत्र को भी पञ्चौदन कहा जाता है। इसके विपरीत उत्सन्न पुरुष -यज्ञ में वस्तुतः पुरुष या ब्रह्म ही ओदन (भात-हवि) रूप में होता है, अतएव उसको ब्रह्मौदन कहा गया है। वैदिक ब्रह्मौदन का स्वरूप भगवद्गीता के उस यज्ञ में भी मिल सकता है, जिसमें ब्रह्म ही को हवि, अग्नि, होता आदि बताया गया है --

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

इसलिये इस दृष्टि से ब्रह्म या पुरुष ही यज्ञ है (श० ब्रा० ३, १, ४, १५; ५, ३, २, ४; गो० ब्रा० ७, २२ आदि) और वह

ही हवि (श० ब्रा० १: २, १, २०,) होता है । इसी यज्ञ को अथर्ववेद में 'प्रथम धर्म' कहा गया है, जिसमें "देव लोग यज्ञ (ब्रह्म) से यज्ञ (ब्रह्म) का यजन करते हैं (यज्ञेन यज्ञमयजयन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमानि आसन) ।

पुरुष यज्ञ के अन्तर्गत आने वाले दोनों प्रकार के यज्ञों के होता भी विभिन्न प्रकार के हैं । पुरुष (ब्रह्म) ही एक शक्ति है जो शरीर की नाना शक्तियों के रूप में होता है —यही एक महादेव है जो इन अनेक देवों के रूप में प्रकट हो रहा है । यही देव पुरुष-रूपी हवि के द्वारा मानों उक्त पुरुष-यज्ञ कर रहे हैं । यही पुरुष कभी कभी इन्द्र भी कहलाता है, अतः इन्द्र से संवन्ध रखने के कारण दर्शन, स्पर्शन आदि की शक्तियां इन्द्रियां कही जाती हैं । साधारणतया ये इन्द्रियां दो वर्गों में बांटी जाती हैं—(१) कर्म-इन्द्रियां और (२) ज्ञान-इन्द्रियां । कर्म-इन्द्रियां पालन आदि करने के कारण पितर तथा ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान का द्योतनादि व्यापार करने के कारण देव भी कहलाती हैं । देवों, (ज्ञानेन्द्रियों) का भी एक तो साधक रूप है जिसमें वे शब्द, स्पर्श आदि की सिद्धि (प्राप्ति) करती हैं, और दूसरा साध्य रूप है जिसके लिये शब्द, स्पर्श आदि का ग्रहण किया जाता है । पहले को केवल प्रायः देव तथा दूसरे को वेद में साध्य देव या केवल साध्य कहा गया है । पितरों (कर्मेन्द्रियों) के भी दो रूप हैं (१) स्थूल शारीरिक अंग जिसको मर्त्य (मनुष्य) कहा गया है तथा (२) उनकी सूक्ष्म शक्ति जिनको अमर्त्य कहा गया है । पुरुष-यज्ञ के अंतर्गत उत्सन्न तथा सत्र यज्ञों को यही साध्य देव, पितर मर्त्य आदि ही करते हैं ।

समष्टि में पुरुष-यज्ञ

'यथा पिंडे तथा ब्रह्मांडे' बहुत प्राचीन लोकोक्ति है, जिसमें भारतीय दर्शन का सार भरा है। वैदिक दर्शन पर तो यह पूर्णतया लागू होती है। व्यष्टि की भांति समष्टि का भी एक पुर के रूप में कल्पना की गई है और उसके वासी ब्रह्म को भी 'पुरुष' कहा गया है (ऋ० १०, ६०, अ० १६)। इस समष्टि को साधारण भाषा में प्रकृति या जगत् कह सकते हैं। इसमें होने वाले व्यापक यज्ञ का रूपक वेद में अनेक बार आया है। एक स्थान (अथ० वे० १३, ४३, ५५) पर वर्षा को इस यज्ञ का आज्य, धूप को अग्नि, पृथिवी को वेदी तथा पर्वतों को इस वेदी के 'ऊर्ध्व' बताया गया है-इन्हीं उपकरणों से जो 'प्रथम-यज्ञ' हुआ, उसी से सारे संसार, 'भूत एवं भव्यं' की उत्पत्ति हुई। नदी, वात, पक्षि-गण आदि में जो संस्रावण (गति) है, वह सब इसी यज्ञ के वर्धन में लगी है। विश्व के प्रत्येक रूप, प्रत्येक वय, प्रत्येक होम, प्रत्येक संस्रावण का परिग्रहण करके ही इस व्यापक यज्ञ का ग्रहण संभव है। इस यज्ञ का तो चारों दिशाएँ (सारा विश्व) ही परिवर्तन तथा परिपोषण कर रही हैं (अथ० वे० १६१, १३)। यह यज्ञ सर्व व्यापक और अनन्त है (अथ० वे० ६, ७६, १):

प्रकृति को वेद में प्रायः गाय के रूप में देखा गया है। अथ० वे० १०, १० में इस गाय का नाम 'वशा' है, जिसमें व्याप्त एक 'वशी' नामक यज्ञ या योधा है। वशा के चार भाग हैं

(१) व्यापक-तत्त्व (२) अमृत-तत्त्व (३) यज्ञ-तत्त्व तथा (४) मूर्त्त-तत्त्व, जिनमें से यज्ञ वस्तुतः 'वशी' के तेज का रूपान्तर है, वशा इसका चक्षु है और वशा का यह आयुध है। इस प्रकार व्यष्टि-गत यज्ञ के समान ही इस समष्टि-गत यज्ञ के संस्रावण का अन्तिम स्रोत उसमें व्याप्त पुरुष (ब्रह्म) ही है। इसीलिये अन्यत्र (अथ० वे० १०, ७, १५-१६) कहा गया है कि "जिस 'पुरुष' में अमृत और मृत्यु समाहित हैं, समुद्र जिसकी नाड़ियाँ हैं, चारों दिशाएँ जिसकी 'प्रथम नाड़ियाँ' हैं; उसी में इस यज्ञ का पर्यवसान है।"

व्यष्टि की भाँति समष्टि में भी इस यज्ञ के करने वाले होताओं की कल्पना की गई है। यहाँ भी सूर्य, अग्नि आदि द्योतनशील तत्त्व देव हैं, सक्रिय परिवर्तन-शील तत्त्व मर्त्य हैं तथा विश्रामोन्मुख पालक तत्त्व पितर हैं। (श० ब्रा० २, १, ३, १; १२, ६, २, ३; २, १, ३, ३; तां ६, ६, १६-२०; श० ब्रा० १३, ८, १, २० आदि)। देव, पितर तथा मर्त्य के क्रमशः जो स्वाहा, स्वधा और अन्न भोजन कहे गए हैं, उन से भी इन तीनों के स्वरूपों पर प्रकाश पड़ता है। देव लोग 'स्व' को दूसरों के लिए व्यक्त करने वाले या देने वाले (श० ब्रा २, २, २, २, ४, ६; ५, १, १, २; ११, १, ८, २;) अथवा 'स्व' को वश में लाने वाले हैं (श० ब्रा० १, ५, ४, ५,) । पितर अपने 'स्व' में अथवा स्व के द्वारा दूसरों को धारण करने वाले हैं तथा मर्त्य दूसरे पर अपने 'स्व' को रखने वाले हैं। उदाहरणार्थ

दिवस देव है और रात्रि पितर (श० २, १. ३, १;) जो जागरित पितर हैं वह मनुष्य (मर्त्य) हैं और जो सुप्त हैं वह पितर (श० १२, ६, २, २); ओपधिलोक पितर है, नक्षत्रलोक देव (श० १३, ८, १, २०)। यही सब देव, पितर और मनुष्य तत्त्व प्रकृति में नाना प्रकार के यज्ञ कर रहे हैं, जिनसे मिलकर अखिल ब्रह्मांड का व्यापक यज्ञ बनता है।

समाज में पुरुष-यज्ञ

जो व्यापक यज्ञ सारे ब्रह्मांड में चल रहा है, वही उसके किसी भी अंग में दिखाई पड़ेगा। उदाहरण के लिये मानव-समाज को ले सकते हैं। यहाँ का सारा सामाजिक कार्य-कलाप एक बृहद् यज्ञ है। इस यज्ञ का स्रोत भी वस्तुतः वही एक 'यक्ष' है जो सारे विश्व में व्याप्त है और सारे 'राष्ट्र-भृत' अपने कार्य-कलाप के द्वारा जिस को ही भेंट दे रहे हैं (अथ० वे० १०, ८, १५) मानव-समाज का जो ब्रह्म-तत्त्व (मनस्तत्त्व) है, वह देव है (प० वि० १, १; तै० १, ४, २, ४; गो० उ० १, ६; श० ब्रा० २, २, २, ६; ४, ३, ४, ४;), जो विशतत्त्व (पालक-तत्त्व) है, वह पितर है (विशः पितरः श०ब्रा० ७, १, १, ५; १३, ४, ३, ६;) और जो शूद्रतत्त्व (पोपण-शील तथा श्रमण-शील) है वही मनुष्य है (श० ब्रा० १४, १२, ६, २०, २, २५;)। यही देव, पितर और मनुष्य समाज के संग्रहण, संरक्षण और वितरण आदि के क्षेत्रों में नाना प्रकार के यज्ञों (कर्मों) को करते हुए, समाज के व्यापक यज्ञ में योग दे रहे हैं। यों ब्रह्म-

तत्त्व (मनस्तत्त्व), विट्तत्त्व (पालक-तत्त्व) तथा शूद्र-तत्त्व (पोषण-श्रमण) प्रत्येक व्यक्ति के आचरण में कुछ न कुछ होते हैं, परन्तु कुछ व्यक्तियों या वर्गों के कर्म में इनमें से किसी एक की प्रधानता हो जाती है और फलतः वे ब्राह्मण, वैश्य या शूद्र कहलाने लगते हैं। अतएव यह भी कहा जा सकता है कि प्रत्येक मानव समाज में ब्राह्मण, वैश्य आदि वर्ग हैं जिनके द्वारा सामाजिक कार्य-कलाप का व्यापक यज्ञ उसी प्रकार संपादित हो रहा है, जिस प्रकार शरीरस्थ-यज्ञ।

अस्तु, पुरुष-यज्ञ की जो कल्पना वेदों में पिण्डाण्ड अथवा ब्रह्माण्ड, व्यष्टि अथवा समष्टि को लेकर की गई है, उसको देखते हुये यह स्पष्ट हो जाता है कि यज्ञ सर्वत्र व्यापक है और कोई भी मनुष्य या जीव—वेदों की भाषा में कोई भी प्रजा—यज्ञ से रिक्त या रहित नहीं है। इसीलिये भगवद्गीता में भी कहा गया है कि सारी प्रजाएँ यज्ञ के साथ उत्पन्न हुई हैं।

पुरुष-यज्ञ का प्रतीक

इसी यज्ञ का प्रतीक वेदी पर प्रदीप्त अग्नि में होने वाला द्रव्य -यज्ञ है ; इसीलिये ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ के विभिन्न अंगों (आहवनीय आदि) का समीकरण पुरुष (मनुष्य) के विभिन्न अंगों के साथ किया गया है। (गो० ब्रा० ५, ५; कौ० ब्रा० १७, ७; १२, २७, ६; श० ब्रा० १, ३, २, १ आदि) यज्ञवेदी की रचना हस्त-पाद-विहीन मानव-शरीर की आकृति से मिलती -जुलती बताई जाती है, जिसमें 'आहवनीय' की वेदी 'शिर' के

स्थान पर होती है। हमारे शरीर के भीतर ब्रह्म-रूपी अग्नि की ज्योति प्रदीप्त हो रही है (अथ० १०, २, ३१-३३) जो गर्भोपनिषद् के अनुसार हमारे स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर में क्रमशः जठराग्नि, दर्शनाग्नि और ज्ञानाग्नि के रूप में व्यक्त होती है। इसी अग्नि में तो उक्त अनेक प्रकार के शरीरस्थ यज्ञों में अन्न आदि की आहुतियाँ दी जाती हैं। अतः यज्ञ-वेदी पर प्रदीप्त अग्नि में भी हम अन्नादि की आहुतियाँ देते हैं, अतएव यज्ञ-प्रथा एक प्रकार की प्रतीक उपासना है जिसके द्वारा हम अपने भीतर के ही ब्रह्म की पूजा करते हैं। ब्रह्म ही यज्ञ का तत्त्व है (अथ० २१, ४२, २)।

शिव-लिंग

यज्ञ का यह प्रतीकवाद ही शिव-लिंग का जन्मदाता है। जब जीवन अधिक जटिल हो गया, तो वेदी या हवन-कुण्ड में प्रज्वलित अग्नि का प्रतीक अधिक सुविधा-जनक न रहा; इसी लिये पत्थर और धातु के प्रतीक बनना स्वाभाविक था। इसी प्रकार कालान्तर में यज्ञ-वेदी से उठती हुई अग्नि की ज्योति ने शिव-लिंग का रूप धारण कर लिया। यही कारण है कि आज भी शिव के ज्योतिर्लिंग कहे जाते हैं और रुद्र, शर्व, पशुपति, ईशान, उग्र, भव, अशनि तथा महादेव आदि जो पुराणों में शिव के नाम हैं, वही ब्राह्मण ग्रन्थों में अग्नि के नाम हैं (श० ब्रा० ६, १, ३, १८; १, ७, ३, ८; ५, २, ४, १३); शिवोपासना में आज जो वैदिक अग्नि-मंत्रों का प्रयोग होता है, वह भी इसी

बात का प्रमाण है कि शिवलिंग अग्नि का ही प्रतिरूप है। जिस प्रकार वेद में अग्नि के जल तथा आकाश में पृथक् पृथक् रूप माने जाते हैं, इसी प्रकार शिव की भी पूजा जल आदि में विभिन्न प्रकार से होती है। अतः नदी, तालाब आदि में 'पाताली महादेव' तो अनेक स्थानों पर आज भी देखने में आते हैं (यद्यपि अज्ञान वश लोगों ने यहाँ भी कहीं जलमग्न प्रस्तर-लिंग की कल्पना कर ली है) और कम से कम चिदम्बरम् में अब भी शिव-लिंग को आकाश रूप में ही स्थित माना जाता है। तै० आ० १०, ४३, ४७ तथा गृह्य-सूत्रों में भस्म आदि लगाते समय भी केवल अग्नि-मन्त्रों के प्रयोग का ही विधान है और शैवों के त्रिपुण्ड आदि की तीन रेखाओं में भी यही अग्निमन्त्र काम में आते हैं। त्रिपुण्ड की तीन रेखाएँ तथा शिव के त्रिशूल के तीन फल भी वैदिक अग्नि के 'त्रिषदस्थ' स्वरूप की ओर ही इंगित कर रहे हैं। शैव मत में भस्म का महत्व स्पष्टतः (तु० तै० आ० १०, ४३- ४४) यज्ञ की पवित्र भस्म से प्रारम्भ हुआ था और सबसे आश्चर्य की बात यह है कि याज्ञिक अग्नि की स्थापना तथा शिवलिंग की प्रतिष्ठा आदि की तुलना में एक रहस्यपूर्ण साम्य दिखाई पड़ता है। कालाग्नि-रुद्र उपनिषद् से तो निसंदेह प्रमाणित है कि जो शिवोपासना शैवागम (विशेषतः दक्षिणी शैवागम) में सुरक्षित है उसका मूल याज्ञिक अग्नि ही है।

अस्तु, यह निर्विवाद मानना पड़ेगा कि शिव-लिंग याज्ञिक

अग्नि की शिखा का प्रतीक है और वाह्य अग्नि स्वयं आध्यात्मिक ज्योति का प्रतीक होने से शिव-लिंग को प्रतीक का प्रतीक मानना पड़ेगा। इस प्रकार यज्ञ की यह वास्तविकता न केवल मोहनजोदड़ों से लेकर अब तक के शिव-लिंग का रहस्य बतलाती है, अपितु यज्ञवाद एवं अध्यात्मवाद का तात्त्विक सम्बन्ध भी प्रकट करती है। यहाँ यह संकेत करना भी असंगत न होगा कि जिस प्रकार वैदिक साहित्य में वर्णित 'त्रिपदस्थ' अग्नि अथवा त्र्यम्बक से सम्बन्ध रखने वाले त्रिपुण्ड का मूल यज्ञ से है, उसी प्रकार ब्रह्मांड-पुराण आदि में वर्णित दीप-शिखा की आकृति वाला ऊर्ध्वपुण्ड्र भी ऊर्ध्व-ज्वलन अग्नि का प्रतीक है।

शैव मत में अग्नि और यज्ञ के जिस प्रतीकवाद के दर्शन होते हैं, उसको देखकर शिव के पौराणिक और तांत्रिक-स्वरूप को सहज ही समझा जा सकता है। शैवागम में निष्कल शिव अपनी शक्ति या माया द्वारा अवर्ण से अनेक-वर्ण, अरूप से अनेक-रूप हो जाता है। वेद में एक ही अग्नि को विश्व में विविध रूप में प्रज्वलित (एक एवाग्निर्बहुधासमिद्धः अथ० ८, ५८ २,) और माया द्वारा प्रदीप्त होने वाला कहा गया है। आगमों के अनुसार सारा विश्व शिव-शक्तिमय है; परन्तु जहाँ शैवागमों में अन्ततोगत्वा शक्ति शिव में लीन हो जाती है और शिव ही मूल तत्त्व रह जाता है, वहाँ सोम-सिद्धान्त तथा शाक्तागमों में शक्ति ही मूल तत्त्व है, जिससे शिव-तत्त्व भी उत्पन्न हो सकता

है। वेदों में इन दोनों का अभिन्न मूल मिल जाता है; वहाँ सारा विश्व अग्नि-सोम (शिव-शक्ति) मय है और अग्नि-सोम का मूल तथा उनका अवतरण (एकत्व से अनेकत्व में परिणमन) एक ही शक्ति द्वारा तथा एक साथ होता है। यद्यपि 'गुहा-हित' अग्नि (शुद्ध शिव) एक ही है। अतएव जहां विश्व के सारे कार्य-कलाप, सारे यज्ञ, सारी विभूतियों का जन्म तत्त्वतः उसी एक से बतलाया जाता है, वहां उसका जन्म भी इन्हीं सारे कार्य-कलाप, सारे यज्ञ, सारे नानात्व के द्वारा ही होता हुआ कहा जाता है, क्योंकि यदि ये न होते तो वह अजन्मा रहता--शक्ति या माया सृजन न करती, तो शिव भी निराकार निष्कल ही रह जाता। इसीलिये वेद में कहा जाता है :—

वह दिन से उत्पन्न हुआ।
दिन उससे उत्पन्न हुआ॥
वह रात्रि से जन्मा।
रात्रि उससे जन्मी॥
वह वायु से पैदा हुआ।
वायु उससे पैदा हुआ॥
वह भूमि से उपजा।
भूमि उससे उपजी॥
वह दिशाओं से आया।
दिशाएँ उससे आईं॥

उसे आग ने जन्म दिया,
आग उससे जन्मी ॥

वह जल से उत्पन्न हुआ।
जल को उसने जन्म दिया ॥

वह यज्ञ से पैदा हुआ।
यज्ञ ने उसे पैदा किया ॥

वह गर्जन करता है।
वह वज्र गिराता है ॥

पापी या सज्जन के लिये।
पुरुष या असुर के लिये ॥

(अथ० १३, ४, २९, ४३)

दूसरे शब्दों में, जहां यह कहना ठीक है कि यज्ञ के द्वारा ब्रह्म (अग्नि) अपने को व्यक्त करता है वहां यह भी कहा जा सकता है कि यज्ञ ही ब्रह्म को नाम-रूप देता है, जन्म लेता है अथवा उसके विपरीत ब्रह्म यज्ञ को जन्म देता है। इस प्रकार यज्ञ की कल्पना भारतीय संस्कृति की अनेक गुत्थियों को सुलझाने की क्षमता रखती प्रतीत होती है--उसके अनेक रहस्यों के उद्घाटन की ओर संकेत करती सी लगती है; परन्तु यह कहानी संस्कृति-प्रेमियों के लिये आकर्षक होते हुए भी बहुत लम्बी और दुरूह है।

(ग) श्रम-यज्ञ

यज्ञ की जिस कल्पना का विवेचन ऊपर हुआ है उससे स्पष्ट है कि भारतीय दर्शन में यज्ञ की कल्पना के अन्तर्गत, सामान्य रूप से, सारे क्रिया-कलाप, सारे कर्म-समूह तथा सारे गति समुदाय आ जाते हैं। यह यज्ञ का स्थूलतम रूप है; यही यज्ञ का व्यावहारिक रूप है और वस्तुतः समाजशास्त्र का सम्बन्ध यज्ञ के इसी रूप से है। परन्तु, फिर भी यह याद रखना आवश्यक है कि यज्ञ, अपने इस रूप में यथार्थतः उस शक्ति की अभिव्यक्ति भर है जिसको 'संस्रावण' कहा गया है और जो एक ओर तो स्थूल 'होम' का परिणाम मात्र है और दूसरी ओर चैतन्य पुरुष (ब्रह्म) से उत्पन्न शक्ति। जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, यही पुरुष-यज्ञ है, जो पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड की भाँति समाज में भी निरन्तर चलता रहता है।

इस यज्ञ द्वारा, जैसा कि पहले कह चुके हैं, पुरुष की अभिव्यक्ति होती है। पुरुष की स्थूलतम अभिव्यक्ति हाड़-मांस के शरीर द्वारा उसके 'श्रम' के रूप में होती है जिसका रूपांतर समाजापेक्षित विभिन्न 'सेवाओं एवं सामानों' में प्रतिक्षण होता रहता है। समाज भोक्ता-रूप में अपनी इच्छा-शक्ति द्वारा 'सेवाओं एवं सामग्रियों' की मांग प्रतिक्षण करता रहता है और वह स्वयं ही भोग्य (उत्पादक) रूप में होकर इस मांग की

पूर्ति के लिये –आवश्यक 'सेवाओं एवं सामग्रियों' के उत्पादन के लिये अपने श्रम का उपयोग करता है। श्रम की इन्हीं उपजों— 'सेवाओं और सामग्रियों'—का उपभोग करके श्रम करने की अपनी क्षमता को परिपुष्ट और परिवृद्ध करता रहता है। इस प्रकार समाज में एक महान् श्रम-यज्ञ चल रहा है। समाज को हाड़-मांस की शरीर-समष्टि ही वेदी है, जिसमें चाह (तृष्णा) की प्रचण्ड अग्नि प्रज्वलित हो रही है,अनेक 'सेवाओं एवं सामग्रियों' की आहुतियाँ पड़ रही हैं जो स्वयं उपभुक्त होकर समाज की शक्ति को बढ़ाती हुई 'सेवाओं एवं सामग्रियों' की अन्यान्य आहुतियों को डालने के लिये उसके श्रम-प्रवाह को निरन्तर गतिमान रखती हैं।

श्रम का महत्व

यह श्रम-यज्ञ ही समाज को जीवित रखता है। इसका अंत समाज का अंत है, इसीलिये वेद में श्रम को बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। श्रम को वहाँ किसी भी लौकिक या पारलौकिक समृद्धि, सिद्धि या शक्ति के समान बहुमूल्य कहा गया है (अथ० वे० ११, ८, १७) और श्रम की गणना ऋत, सत्य तथा तप जैसी आध्यात्मिक विभूतियों और राज्य, धर्म एवं कर्म जैसी पार्थिव शक्तियों के साथ की गई है (अथ० वे० ११, ८, १७; ८, ९ ६)। श्रम बड़ी भारी शक्ति है जिसके विना देवता भी सहायता नहीं कर सकते (ऋ० वे० ४, ३४, ४); श्रम के द्वारा देवत्व, अमरत्व तथा इन्द्र देव की प्राप्ति होती है (ऋ० वे ३,

६०, २; १, ११०, ३, ६०, ३; १, ११०, ४)। कहा जाता है कि रथ बनाने वाले, चर्म -चीर संधान करने वाले, पशु का चमड़ा निकालने वाले, प्याले अलंकृत करने वाले, लकड़ी का काम करने वाले तथा ऐसे ही अन्य श्रमजीवी मर्त्य होते हुए भी अमर हो सकते हैं (ऋ० वे० १, ११०, ८; १, १६१; १-२७४; ३, ६० २; इत्यादि)।

श्रम का वर्गीकरण

जिस हाड़-मांस की समष्टि द्वारा समाज का यह श्रम-यज्ञ चल रहा है, वह वस्तुतः हमारे अन्ननिर्मित शरीरों की समष्टि है अतः इसको अन्नमय समष्टि भी कहते हैं जिसका नाम पशु, पशु या शु भी है (तु० क० श० ब्रा० ६, २, १, १६; ७, ५, २, ४२; ६, ८, २, ७; ४, ६, ६, १; को० ब्रा० ३, ७; ५, ७; २६, ३; प्रभृत्ति) इसी 'शू' (अन्नमय) को द्रुतिमय (गतिशील) बनाने वाला होने से साधारण श्रम 'शूद्र' (शू+द्रम्) भी कहलाया। इस प्रकार का श्रम तो सभी सरीसृपों, मृगों एवं पक्षियों आदि में भी पाया जाता है और यदि मनुष्य में श्रम का यही रूप रहता तो वह केवल दौड़ धूप करने वाला पशु ही रहता। मानव समाज का इतने से काम नहीं चल सकता; ऐसा श्रम लेकर तो वह वानर या वन-मानुष की भाँति ही जीवन व्यतीत कर सकता था; परन्तु मानव-समाज वर्षा शीतादि से बचने के लिये मकानों एवं वस्त्रों के रूप में निवेश या वेश का भी निर्माण करता है। इस प्रकार के योग्य श्रम को ही वैदिक

समाजशास्त्र में 'विश्' कहा गया है। यद्यपि प्रारम्भ में 'विश्' श्रम का सम्बन्ध वेश (वस्त्र) और निवेश (घर) से ही था और वेश तथा निवेश द्वारा ही अन्नमय समष्टि की रक्षा उससे होती थी; परन्तु शनैः शनैः उसका सम्बन्ध वसन या वास से आगे बढ़कर अशन आदि से भी होना स्वाभाविक था। अतः 'विश्' श्रम के अन्तर्गत वह सारा श्रम आ सकता है जो समाज के लिये सारे सामानों या सामग्रियों का उत्पादन करता है।

आधुनिक समाजशास्त्र के अनुसार 'शूद्र' एवं 'विश्' के अन्तर्गत आने वाले श्रम को सामाजिक क्रिया-शक्ति (Social-function) कहा जा सकता है। 'विश्' के द्वारा यदि समाज अन्न- वस्त्र आदि भोग्य-सामग्री का उत्पादन करता है तो शूद्र श्रम के द्वारा वह उसका वितरण करता है—एक रसोइया है तो दूसरा परोसने वाला। इसीलिये शूद्र श्रम का वर्णन दानार्थक 'दाश्' या दास धातु से किया जा सकता है और इसी वर्णन के आधार पर शूद्र श्रम को 'दास वर्ण' कहा जाता है। शूद्र और दास एक ही श्रम के वाचक होते हुए भी एक श्रम के उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जो अन्नमय समष्टि को पेड़, फल, फूल, नदी जल आदि प्राकृतिक देनों तक पहुंचाता है और दूसरा उस स्वरूप की ओर संकेत करता है जो स्वयं समाज द्वारा निर्मित अशन, वसन, वसन, और आवास को समाज की पहुंच के भीतर लाता है। अतः शूद्र श्रम का काम 'अन्नमय समष्टि' को गतिमय बनाकर सामाजिक--वितरण में योग देना

है और इसी गतिशील 'अन्नमय' का पालन करने से ही 'विश्' श्रम को गोप्तृ (गुप्त) कहा जाता है। इसी वर्णन के आधार पर 'विश्' श्रम को वैश्य के साथ साथ गोप्तृ (गुप्त) या गोपा वर्ण भी कहा जा सकता है। 'विश्' द्वारा उत्पादित सामग्री यदि न हो, तो 'अन्नमय समष्टि' की न केवल गति समाप्त हो जाय, अपितु उसका अस्तित्त्व ही मिट जाय। अतः विश् और शूद्र श्रम का समष्टि से वही सम्बन्ध है जो प्राण एवं शरीर का 'व्यष्टि' में। इसी से 'विश्' को समाज का प्राण गोपा कहा गया है क्योंकि वही सारी 'अन्नमय' समष्टि का गोपन (रक्षण) करता है। इसलिये 'शूद्र' श्रम जहाँ समाज के 'अन्नमय' की अभिव्यक्ति कहा जाता है, वहाँ 'विश्' श्रम समाज के प्राणमय की अभिव्यक्ति कहा जाता है।

इस अन्नमय एवं प्राणमय के मेल से ही समाज का स्थूल शरीर बना है, जिसकी सुरक्षा का उपाय प्राप्त हुए बिना अन्नमय तथा प्राणमय का उक्त श्रम अविच्छिन्न रूप से नहीं चल सकता। इसको अक्षत रखने के लिए समाज एक तीसरे ही प्रकार का श्रम काम में लाता है; क्षतों से त्राण करने के कारण इस श्रम को क्षत्र कहते हैं। इसका काम है शूद्र एवं विश् श्रम में संगठन तथा समन्वय स्थापित करना, क्योंकि संगठन तथा समन्वय का अभेद्य वर्म (कवच) पहने बिना शूद्र एवं विश् सुरक्षित तथा सुचारु नहीं रह सकते। समाज के लिये वर्मवत् होने के कारण ही इसका दूसरा नाम वर्मन् (वर्मा) भी है। यह क्षत्र न केवल

राज्य के रूप में समाज के राजनैतिक जीवन को संगठित करता है, अपितु सामरिक, आर्थिक, धार्मिक तथा शैक्षिक जीवन का संगठन भी क्षत्र श्रम द्वारा ही होता है। समाज में शूद्र तथा विश् श्रम से क्षत्र का वही संबन्ध है जो व्यष्टि में अन्नमय तथा प्राणमय से मन का। अतः क्षत्र श्रम को समाज की 'मनोमय' समष्टि कह सकते हैं। हमारे स्थूल शरीर की श्वसन, पाचन, संचलन आदि क्रियाओं को मन जिस शक्ति द्वारा संगठित तथा समन्वित करता है उसके अन्तर्गत ज्ञानेन्द्रियों में काम करने वाली संग्राहिका शक्ति, निर्णय करने में सहायक संकल्प-विकल्पात्मिका शक्ति तथा निर्णीत को कार्यान्वित करने वाली व्यवसायात्मिका शक्ति आती है और इसलिये उसे क्रियाशक्ति से भिन्न सात्त्विमयी दर्शन शक्ति कहा जाता है। अतः समाज के 'मनोमय क्षत्र' को भी उसकी दर्शन-शक्ति मानना ही ठीक होगा। समाज में यह सात्त्विमयी दर्शन-शक्ति ही सहस्राक्ष इन्द्र है (कौ० १२, ८; तै० ३, ६, १६; श० २, ५, २, २७; २, ५, ४, ८; ३, ६, १, १६; ४, २, ३, ६;) जिसकी अध्यक्षता में शूद्र (*पूषा) तथा विश् (वसु, मरुत् तथा रुद्र आदि देवों के गण†) निरन्तर काम करते रहते हैं।

---

* स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणम् (श० १४, ४, २, २५)

† स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति

(श. १४, ४, २, २४)

अतः आधुनिक समाज-शास्त्र की भाषा में हम क्षत्र को सामाजिक अध्यवसाय (Social Will) कह सकते हैं। शूद्र तथा विश् द्वारा होने वाले सामाजिक कार्य-कलाप की अध्यक्षता करने वाले इस क्षत्र का समाज में वही स्थान है जो एक व्यवस्थापक का एक कार्यालय में। जिस प्रकार कार्यालय में बैठा हुआ व्यवस्थापक एक निर्दिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्यालय के विभिन्न कर्मचारियों के बीच एक निश्चित प्रकार का संगठन एवं समन्वय स्थापित करता है उसी प्रकार क्षत्र भी एक निश्चित सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये कार्य करता है। इस उद्देश्य और प्रकार को आधुनिक समाजशास्त्र के अनुसार सामाजिक-उद्देश्य ((Social-purpose) या सामाजिक-चेतना (Social consciousness) कह सकते हैं और इसको शक्ति देने वाला शूद्र, विश् तथा क्षत्र से भिन्न वह श्रम है जिसको समाज ज्ञान-विज्ञान के उपार्जन में लगाये हुए है; अतः इसको समाज की ज्ञान-शक्ति कह सकते हैं। उक्त मनोमय सृष्टि को प्रेरणा या आदेश देने वाला यह श्रम समष्टि में वही स्थान रखता है जो व्यष्टि में 'विज्ञानमय' का। इसलिये इसे समष्टि का 'विज्ञानमय' कह सकते हैं। 'विज्ञानमय' की यह सूक्ष्म ज्ञान-शक्ति ही है जो क्षत्र को संगठन-समन्वयात्मक क्रियाओं के विशाल ढांचे के अपेक्षाकृत-स्थूल रूप में परिवर्तित हो जाती है—सूक्ष्म से स्थूल की ओर बृहण (वृद्धि) होने के कारण ही इस ज्ञान-शक्ति को 'ब्रह्म' को कहते हैं। अतएव ब्रह्म को क्षत्र का स्रोत कहा गया

है (श० १४,४, २, २३; तै० ब्रा० २, ८, ८, ६; तां ११, १, २) क्योंकि ब्रह्म 'अभिगन्ता' है तो क्षत्र कर्ता है (श० ४, १, ७, १)। क्षत्र जब तक ब्रह्म के आधीन रहता है तभी तक समाज का कल्याण होता है (तद्यत्र वै ब्रह्मणः क्षत्रं वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धम् ए० ब्रा० ८, ६) इसके विपरीत होते ही समाज अशांति, अराजकता और विप्लव के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। अतः ब्रह्म जब अपने स्थान पर नहीं होता तो क्षत्र का वर्म पहने हुए भी समाज सुख (शर्म) नहीं पाता। शर्म (सुख) का मूल कारण होने से ही ब्रह्म को शर्मन् भी कहते हैं।

वर्ण-व्यवस्था

समाज-शरीर के चार स्तरों—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय--में होने वाला क्रमशः शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म रूप में चतुर्विध श्रम-यज्ञ वस्तुतः सामाजिक व्यवहार की एक ही संश्लिष्ट इकाई है जिसमें समाज के सभी अन्योन्याश्रित व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष योग दे रहे हैं। अतएव यद्यपि एक दृष्टि से श्रम के चारों रूप एक व्यक्ति में मिल सकते हैं, परन्तु फिर भी दक्षता एवं कुशलता की दृष्टि से प्रत्येक व्यक्ति, अपनी योग्यता और सामर्थ्य के अनुसार एक ही में प्रायः विशेषीकरण करता है —एक अपने विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म को शूद्र श्रम के आधीन करता है,तो दूसरा अपने शूद्र,क्षत्र तथा ब्रह्म को विश् श्रम की सेवा में लगाता है और तीसरा अपने शूद्र,विश् तथा ब्रह्म को क्षत्र के विकास के लिये प्रयुक्त करता है और चौथा शूद्र, विश् तथा

क्षत्र को ब्रह्म के लिए बलिदान कर देता है। इस प्रकार शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म की इनके व्यवहार में प्रधानता होने के कारण ये व्यक्ति क्रमशः शूद्र, क्षत्र तथा ब्रह्म वर्ग के कहलावेंगे। व्यक्तियों की भांति किसी समाज के विभिन्न वर्ग भी इसी प्रकार विशेषीकरण के द्वारा शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म वर्ण के कहे जा सकते हैं।

आदर्श समाज-व्यवस्था वही हो सकती है। जिसमें श्रम के अन्य तीनों रूप मिलकर 'ब्रह्म' के विकास में तत्पर हों क्योंकि सारे श्रम का चरम लक्ष्य शर्म (ब्रह्म) ही रहने से समाज स्वस्थ और सशक्त हो सकता है। इसीलिये वेदों में ब्रह्म को सर्व-प्रमुख स्थान दिया गया है। पुरुष-सूक्त में ब्रह्म के विशेषज्ञ ब्राह्मण को मुख तथा क्षत्र, विश्, शूद्र को क्रमशः बाहु, उरु तथा पैर कहा गया है। इस सूक्त से जो लोग वैदिक समाज में ऊँच-नीच का भेद-भाव ग्रहण करते हैं वे भ्रम में हैं। सामाजिक श्रम के इन चार तत्त्वों का जो विवेचन ऊपर किया गया है। उसी से स्पष्ट है कि इनमें चारों ही प्रत्येक व्यक्ति में होते हैं और चारों अन्योन्याश्रित हैं, फिर ऊँच नीच का भेद ही कैसा। समाज-शरीर को गति, शक्ति, सुरक्षा एवं तुष्टि प्रदान करने से ही शूद्र, विश्, क्षत्र तथा ब्रह्म श्रमों को क्रमशः पैर, उरु, बाहु तथा मुख (शिर) कहा गया है। चारों ही अपने अपने स्थान पर महत्त्व-पूर्ण हैं और इनमें से किसी भी एक के अभाव में समाज-शरीर अपूर्ण एवं अशक्त है। यदि अन्य तीन के द्वारा

ब्रह्म का विकास अभिप्रेत है तो केवल इसलिये कि शूद्र, विश् तथा क्षत्र सहित सारा समाज शर्म (सुख) प्राप्त कर सके।

(घ) आश्रमण

उक्त वर्ण-व्यवस्था द्वारा ही शूद्रश्रम, विश् श्रम, क्षत्र श्रम तथा ब्रह्म श्रम की व्यापक तथा समन्वित समष्टि का विभाजन तथा विशेषीकरण होता है, परन्तु इस उच्च आदर्श की प्राप्ति के लिये वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के पूर्ण नियंत्रण की आवश्यकता थी। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी है और यदि वह स्वच्छन्द छोड़ दिया जाय तो समाज का अस्तित्व ही मिटादे। इसलिये वैदिक-संस्कृति में समाज की एक आश्रमण प्रक्रिया के आधार पर अवलम्बित आश्रम व्यवस्था की कल्पना की गई है जिसके विषय में जर्मन विद्वान डासन (Deussen) कहता है 'We are free to confess that in our opinion the whole history of mankind was not much that equals the glamour of this thought" (हम यह स्वीकार करने में स्वतन्त्र हैं कि सारी मानव-जाति के इतिहास में —हमारी समझ में— ऐसी थोड़ी सामग्री होगी जो इस विचार धारा की गरिमा को पहुंच सके)।

आश्रम शब्द श्रम से निकला है और इसका शाब्दिक अर्थ है 'वह व्यवस्था या अवस्था जिसमें व्यक्ति श्रम कर सके, परन्तु इस शब्द के पीछे इसके शाब्दिक अर्थ से कहीं अधिक महत्त्व-

पूर्ण भाव छिपा है। आश्रम-व्यवस्था का उद्देश्य न केवल प्रत्येक व्यक्ति के लिये श्रम को अनिवार्य कर देना है, अपितु इसका लक्ष्य उचित उद्देश्य की पूर्ति के लिये उचित ढंग से श्रम का उपयोग करवाना भी है। हम देख चुके हैं कि वैदिक वर्ण-व्यवस्था में ब्रह्म के उत्तरोत्तर विकास द्वारा शर्म की प्राप्ति ही लक्ष्य रक्खा गया है; अतएव व्यक्ति के शिक्षण एवं नियमन के लिये, सबसे पहले इसी तथ्य पर जोर देने के लिए प्रथम आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य रखा गया है। ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ है "वह आश्रम जिसमें ब्रह्म आचरणीय हो।" यों सारे मानव-जीवन में ही ब्रह्म आचरणीय है; परन्तु मनुष्य के प्रारम्भिक जीवन में जब तक इसकी तैयारी नहीं होती तब तक शेष जीवन में इसकी पूर्ति असम्भव है; अतएव मानव-जीवन के चरम लक्ष्य की कुञ्जी यही प्रथम आश्रम होने से इसका नाम 'ब्रह्मचर्य' रखा गया है। इसमें न केवल अध्ययन संयम आदि द्वारा ब्रह्मचारी सामाजिक 'ब्रह्म' श्रम के उत्कर्ष में सहायक होता है, अपितु वह गुरुकुल में रहकर, समाज के अन्न वस्त्र से पलकर समाज के व्यक्तियों को अपना 'ऋण' चुकाने का एवं स्वयं को समाज से उपकृत होने का भी अवसर देता है। इसके फलस्वरूप जहां समाज में वित्त-वैषम्य का ह्रास होने में सहायक मिलती है वहाँ व्यक्ति में समाज के प्रति कर्त्तव्य-भावना का विकास होता है।

गृहस्थाश्रम में मनुष्य को गृही होकर श्रम करना है। यहाँ इसका श्रम अर्थ-काम-परायण होकर रमण को प्रोत्साहन देता

है, जिस प्रकार ब्रह्मचर्य आश्रम का ज्ञान परायण श्रम 'दमन' को प्रोत्साहन देता है। परन्तु वैदिक गृहस्थ के श्रम की अर्थ-परायणता ब्रह्मचर्य आश्रम के होते हुए साध्य न होकर साधन मात्र हो जाती है और सामाजिक सम्पत्ति एवं सभ्यता के उत्सर्ग में सहायक होती हुई न केवल व्यक्ति को, अपितु समाज को भी ब्रह्म की ओर अग्रसर करती है। गृहस्थ, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं सन्यासी का पालन करके अपने ऋण का भार हल्का करता है और उन तीनों के 'ब्रह्म' विकास यज्ञ में योग देता है। उक्त पंच महायज्ञ करना उसके लिये अनिवार्य है और अन्य आश्रमों की सेवा इन यज्ञों का प्रसरण मात्र ही है। इसीलिए गृहस्थाश्रम कई स्थानों पर सर्वश्रेष्ठ कहा गया है।

गृहस्थाश्रम की अर्थ-परायणता का अवसान होता है वानप्रस्थ आश्रम की उपरति में और इस उपरति का पर्यवसान होता है सन्यास के 'शम्' में। वस्तुतः इस 'शम्' की प्राप्ति होने पर ही व्यक्ति 'ब्रह्म' के उत्कर्ष में प्रत्यक्ष योग दे सकता है और सामाजिक 'शर्म' स्थापित करने में तत्पर हो सकता है। इसी 'शम्' की प्राप्ति ही प्रथम आश्रम के 'ब्रह्मचर्य' श्रम का लक्ष्य है। अतः स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था द्वारा व्यक्ति के श्रम को उत्तरोत्तर 'शम' रूप देने का प्रयत्न किया गया है जिससे व्यक्ति न केवल समाज-व्यवस्था के चरम लक्ष्य की प्राप्ति में अपना पूर्ण योग देने की क्षमता प्राप्त कर सके, अपितु वह स्वयं समाज-व्यवस्था को भी सुदृढ़, सयत एवं स्वस्थ रख सके।

आश्रम-व्यवस्था जहाँ अपने गृहस्थाश्रम द्वारा वर्ण-व्यवस्था के शूद्र, विश् तथा क्षत्र तत्त्वों में आने वाले साधारण सामाजिक व्यवहार (Social function) को सक्रिय रखता है वहां यह ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ तथा संन्यास द्वारा समाज के ब्रह्म-तत्त्व के पोषण के लिए व्यक्ति के (उसके द्वारा सारे समाज के) जीवन को तैयार करता है। इस प्रकार आश्रम-व्यवस्था द्वारा वर्ण-व्यवस्था में श्रम-यज्ञ की वस्तुतः पूर्ति होती है और साधारण श्रम शम में परिवर्तित होकर शर्म प्रदान करता है।

श्रमणवाद

इसका अभिप्राय यह है कि आश्रम-व्यवस्था पर ही वर्ण-व्यवस्था की सफलता अवलंबित है। संभवतः इसीलिए आश्रम-व्यवस्था के ढीला पड़ने पर वर्ण-व्यवस्था का भी रूप बदलने लगा और बदलते बदलते उसका आधार गुण-कर्म के स्थान पर जन्म मात्र हो गया जिसके परिणाम-स्वरूप समाज में विश् श्रम को ही प्रधानता मिल गई और कामार्थपरायणता की घोर आंधी ने शम, दम आदि को उठा दिया, श्रम की महत्ता तथा पवित्रता जाती रही और लोग दूसरे की कमाई पर मौज उड़ाने के अभ्यस्त हो गए, मनुष्य के आध्यात्मिक रूप के स्थान पर उसके भौतिक रूप को महत्त्व मिला और नृशंसता तथा क्रूरता बढ़ने लगी; उद्योग और पौरुष के स्थान पर दैव एवं देव का भरोसा बढ़ने लगा और फलतः बढ़ने लगी मानव के प्रति उपेक्षा। यही अवस्था देखकर श्रमणवाद का जन्म हुआ जिसने

भारतीय संस्कृति के मूल श्रम-वाद की पुनः उद्घोषणा करके बौद्ध एवं जैन आचार्यों के रूप में यह बतलाया कि समाज के लिए श्रम की अनिवार्य आवश्यकता है और सभी प्रकार के श्रम (शूद्र विश् क्षत्र ब्रह्म) अपने अपने स्थान पर एकसा महत्त्व रखने के कारण उनके आधार पर प्रचलित ऊँच-नीच का भेद-भाव त्याज्य है। श्रमणवाद ने 'शम' के महत्व को ध्यान में रखते हुए, यह भी कहा कि सच्चा 'श्रमण' तो वही है जो अपने श्रम का पर्यवसान 'शम' में करते।

वस्तुतः जो शक्ति हमारे स्थूल-शरीर में 'श्रम' रूप में प्रकट होती है, इसी का सूक्ष्म रूप हमारे सूक्ष्म शरीर में प्रकट है जिसको वेद में शची कहा गया है। इसी का सूक्ष्मतम रूप हमारे कारण शरीर में है, जिसे वेदों में 'शमी' या 'शम' कहा गया है। इसलिए एक दृष्टि से शची और शमी (शम) विभिन्न प्रकार के श्रम ही हैं। यदि आज हमें शम देवत्व देता है या मोक्ष-मार्ग बतलाता है तो कभी वही हमारे स्थूल शरीर में मनुष्यता प्रदान करता है। यदि हमारे स्थूल-शरीर में हमारा श्रम मनुष्यता के स्थान पर पशुता या असुरता का अधिकारी बनता हो तो यह निश्चित है कि सूक्ष्म एवं कारण शरीर में जाकर वह कदापि हमें अपना 'शम' नहीं दिखा सकता और न देवत्त्व या मोक्ष की ओर ले जा सकता है। अतएव सच्चे श्रमणवाद में हमारे-स्थूल शरीर का श्रम शम रूप में आने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। अतः जहां एक दृष्टि से स्थूल-शरीर से लेकर कारण-शरीर तक के सारे श्रम-यज्ञ ही हैं वहां दूसरी

दृष्टि से वे देवयज्ञ या असुर-यज्ञ में विभाजित किए जा सकते हैं। हमारे भीतर देव और असुर, फ़रिश्ता और शैतान सदा द्वन्द्व करते रहते हैं—एक प्रतीक है सत्, शान्ति और प्रगति का, दूसरा प्रतीक है असत्, अशान्ति और दुर्गति का। वस्तुतः ये दोनों एक ही श्रम-शक्ति के दो पक्ष हैं जिनके द्वारा माया-शबलित चैतन्य अपने को अभिव्यक्त करता है; परन्तु दूसरे को अपनाने से माया या अविद्या का परदा बढ़ता ही जावेगा जबकि प्रथम के ग्रहण से चैतन्य अपने शुद्ध-स्वरूप का साक्षात्कार कर सकेगा। अतः इस सारे नानात्मक यज्ञ का आध्यात्मिक रूप वस्तुतः एक ही मूल की ओर संकेत करता है और वह है ब्रह्म या पुरुष की चैतन्य-शक्ति।



(४) समाज का विकास

आधुनिक समाजशास्त्र में, अन्य शास्त्रों की भांति ही 'विकास' की चर्चा अवश्य रहती है। भारतीय समाजशास्त्र में भी विकास की कल्पना है, यद्यपि उसका स्वरूप संभवतः आधुनिक विकास-कल्पना से मेल नहीं खाता। भारतीय विकासवाद का स्वरूप समझने का प्रयत्न करने से पूर्व, हमें विकास-प्रक्रियाओं में काम आने वाले कुछ पारिभाषिक शब्दों को जान लेना आवश्यक है। अतः यहां पर पहले उन्हीं का संक्षिप्त वर्णन किया जाता है।

(क) विकास के सात लोक

समाज श्रम के ही विकास का परिणाम है। समाज की नाना क्रियाओं के रूप में श्रम की एक महान होली जल रही है। इस होली को देखकर कौन कह सकता है कि यह आलोकमयी ज्वाला उसी श्रम का ही विकसित रूप है जो व्यक्तियों के शरीर में व्याप्त है। परंतु, श्रम क्या, सभी शक्तियों के विकास का यही ढंग है—सूक्ष्म से स्थूल की ओर, एकता से अनेकता की ओर आरोहण। अरणियों (लकड़ियों) में अग्नि व्याप्त है, पत्थरों में अग्नि छिपी है, परन्तु कहीं दिखाई नहीं पड़ती। अरणियों को रगड़िये, पत्थरों को टकराइये, तो अग्नि निकलेगी जिसको आप यत्नपूर्वक काम में लायें, तो एक महा विकराल

होली की ज्वाला में परिणत कर सकते हैं। अरणियों या पत्थरों में जो अग्नि 'समाहित' (पूर्ण रूपेण स्थित) रूप में था, वही उन्नति मार्ग पर आरोहण करके 'समिद्ध' (सम्यक् रूप से प्रज्वलित) अग्नि बनता है। 'आरोहण' की दृष्टि से यदि 'समिद्ध' अग्नि को 'रोहित' (चढ़ा हुआ) कहा जाय, तो अरणियों या पत्थरों में 'समाहित' अग्नि को 'रुह' (चढ़ने की शक्ति रखने वाला) कह सकते है। निष्क्रिय सोते हुए व्यक्तियों की श्रम शक्ति सुपुप्त है, परन्तु उनके सक्रिय होते ही समाज का नाना कर्म-जाल फैल जाता हैं। 'रुह' अग्नि की तो सत्ता (स्थिति) मात्र है, परन्तु 'रोहित' तो सक्रिय है, कर्ममय है। रोहित (समिद्ध) अग्नि चूल्हे में भोजन पकाती हैं, वन जलाती है, धुयें को उत्पन्न करती है। हमारी जठराग्नि को 'रुह' या 'समाहित' रूप में कौन जानता है, परन्तु 'रोहित' या समिद्ध रूप में वह पाचन, संचरण, श्वसन, स्पर्शन, आदान, प्रदान आदि अनेक कर्मों में परिणत हुई दिखाई पड़ती है। वेद में कर्म को 'अपः' तथा 'सत्ता' (स्थिति) की अवस्था को 'सत्य' नाम देकर अग्नि के इन्हीं दो रूपों का वर्णन करते हुये कहा गया है कि :—

सत्ये अन्यः समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते। अर्थात् 'एक सत्य में 'समाहित' है और एक अप्सु (कर्मों) में समिद्ध हो हो रहा है।

इस प्रकार अग्नि को भांति, आरोहण की दृष्टि से, श्रम आदि अन्य शक्तियों की दो अवस्थायें या 'लोक' हैं; जिनमें वे

'आलोक' (प्रकाश या अभिव्यक्ति) करती हैं—एक सत्यम् और दूसरा अपः। एक दूसरी दृष्टि से 'अपः' लोक को 'भूः' भी कहा गया है, जिसका अर्थ है (विविध रूप में) 'होने वाला' वस्तुतः सत्यम् और भूः तो आरोहण के दो अत्यन्त (extremes) हैं, एक स्थितिसूचक और दूसरा प्रगति-सूचक। परन्तु इन दोनों के बीच में भी और नई अवस्थाओं की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार आरोहण के सात लोक माने जाते हैं :—

(१) सत्यम (२) तपः (३) जनः	असमत् या अहंभाव या रुह
(४) महः...	संधि
(५) स्वः (६) भुवः (७) भूः	महत् या स्वभाव या रोहित

इन सातों लोकों को समझने के लिये, हम पुनः अग्नि का ही उदाहरण ले सकते हैं। 'सत्यम्' की अवस्था में अग्नि की सत्ता लकड़ियों या पत्थर में अज्ञेय या अदृश्य है। 'स्वः' की अवस्था में वह 'स्व' रूप में प्रकाशमान होता है, 'भुवः' में वह 'पर' (दूसरे पदार्थों) को प्रभावित करने अथवा द्वैत रूप में प्रकट होने की क्षमता ग्रहण करता है—द्वैत के अस्तित्व को जानता है। ऐसी अवस्था को पार करके ही वह 'भूः' होकर विविध रूपों में विकसित या प्रकाशित होता है। 'स्वः' को यदि

स्फुल्लिंग मानें, तो 'भुवः' स्फुल्लिंग में से घूँघट खोलकर अंतरिक्ष में प्रथमवार निहारने वाली अर्चि का अंकुर है और भुः 'अर्चि' है। परन्तु, सत्य से स्वः होने के लिये अन्य अवस्थाओं को पार करना पड़ता है। लकड़ियों को रगड़कर उनमें 'ताप' उत्पन्न किया जाता है। इसी अवस्था को 'तपः' कहते हैं। 'स्वः' से 'भूः' तक प्रकट होने वाले अग्नि को उत्पन्न करने की शक्ति इसी 'तपः' लोक में संगृहीत या संहृत होती है। लकड़ियों के रगड़ने में सारे समय सारे घर्षण क्षेत्र में एकसा प्रभाव नहीं रहता; अपितु काल-विशेष पर और एक स्थान-विशेषपर लकड़ी विशेषरूप से गर्म होकर 'अग्नि' के 'जनन' के लिये उद्यत हो जाती है। यही अग्नि का 'जनः' लोक है। इस अवस्था तक भी अग्नि अभी 'अहम्' द्वैत के लिये इच्छुक एक -ही है; लगभग सत्ता मात्र ही। इसके विपरीत स्वः, भुवः और भूः लोकों में वह केवल गतिमय या क्रियामय 'अपः' या 'भूः' है। इन दोनों अवस्थाओं की संधि में एक और लोक की कल्पना की जा सकती है जो सत्ता और अपः दोनों का मध्य हो। सत्ता की अवस्था में अग्नि सूक्ष्म होता है, तो अप की अवस्था में स्थूल। अतः 'अपः' की अवस्था में आने से पूर्व अग्नि की एक ऐसी अवस्था की कल्पना की जा सकती है जो सूक्ष्म अवस्थाओं में भी स्थूलतम या महत्तम हो। अतः इस संधि-लोक को 'महः' कहा गया है। 'महः' शब्द का एक और गुण है। सत्ता की अवस्थाओं में जो 'अहम्' है, महः उसके विलोम 'मह' से निकला हुआ है। जबकि सत्ता के लोकों के लिये सूक्ष्मता या

सत्ता सूचक 'अस्' धातु के 'अहं' या अस्मत् शब्द का प्रयोग होता है, तो प्रगति, वैविध्य या स्थूलत्व को प्रकट करने वाले लोकों के लिये 'अहम्' के विलोम 'मह' से बने हुए 'महः' या 'महत्' का प्रयोग होता है।

ये सात लोक शक्ति के प्रत्येक विकास में देखे जा सकते हैं। यहाँ उदाहरण के लिये हम निम्नलिखित विकासक्रमों को देख सकते हैं :—

(१) व्यष्टि-विकास (शरीर)

(१) सत्यम्—माता पिता के शरीरद्वय में रज और वीर्य रूप में स्थित।

(२) तपः —दोनों में काम-वासना की तपन होना

(३) जनः —दोनों का समागम

(४) महः – रज और वीर्य के बिन्दुओं का संयोग

(५) स्वः रज-वीर्य के संयोग से बुद्बुद् शरीर का जन्म

(६) भुवः —शरीर के विभिन्न अङ्गों का आना।

(७) भूः —पूर्णतया विकसित शिशु का जन्म।

(२) व्यष्टि-विकास (व्यक्तित्व)

(१) सत्यं—गर्भ में शिशु-शरीर के 'स्वः' का निर्माण।

(२) तपः —स्वः का विकास और माता की तपस्या।

(३) जनः —शिशु के प्रसव पीड़ा।

(४) महः —शिशु का जन्म।

(५) स्वः—उत्पन्न हुए शिशु में 'अहम्' का जन्म ।
(६) भुवः —अहं से पृथक 'पर' का ज्ञान।
(७) भूः —'पर' के साथ विविध व्यवहार ।

(३) व्यष्टि में समष्टि का विकास।

(१) सत्यं—शिशु में अहम से पृथक 'पर' का ज्ञान।
(२) तपः—'पर' को जानने-समझने की जिज्ञासा और प्रयत्न।
(३) जनः —माता-पिता से बन्धुता की स्थापना।
(४) महः —परिवार से बन्धुता की स्थापना ।
(५) स्वः —निज परिवार से बाहर अन्य परिवारों के संपर्क में आना और उनके साथ अपना सबंध समझना।
(६) भुवः —उक्त सामाजिक संबन्ध का विस्तार और प्रसार।
(७) भूः —पूर्ण वयस्क होने पर सामाजिक सम्बन्धों को समझते हुये, समाज के विभिन्न संगठनों के अंग बनकर कार्य करना।

इन सात लोकों का वर्णन और संक्षिप्त किया जाय, तो प्रथम तीन —सत्य, तपः, जनः —को अहंभाव और अन्तिम तीन —स्वः, भुवः, भूः —को स्वभाव कह सकते हैं; अहंभाव और स्वभाव की संधि 'महः' में होती है। 'अहंभाव' को अहम् का ऋणात्मक रूप कहें, तो स्वभाव 'अहं' का धनात्मक रूप है। अतएव प्रत्येक विकास-प्रक्रिया में वास्तविक (धनात्मक Positive) विकास 'स्वभाव' में ही निहित है। व्यक्ति के श्रम या कर्म का विस्तार अतः स्वभाव से ही बताया गया है,

जिसके मिटाने में कोई समर्थ नहीं। श्रम या कर्म के इसी स्वभावतंत्र के अन्तर्गत मनुष्य तथा मनुष्येतर सभी फँसे हुये हैं। इसी 'स्वभावस्थ कर्म' से व्यक्ति का जीवन बना है और इसी 'देवत' को अपने 'स्वकर्म' के द्वारा पूजन का उपदेश भागवत पुराण के दशमस्कंध में किया गया है :—

अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्कर्मणाम।
कर्तारं भजते सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः॥
किमिन्द्रेणेह भूतानां स्वस्वकर्मानुवर्तिनाम्।
अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम्॥
स्वभावतंत्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते।
स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम्।
देहानुच्चावचाञ्जन्तुः प्राप्योत्सृजति कर्मणा।
शत्रुर्मित्रमुदासीनः कर्मैव गुरुरीश्वरः॥
तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत्।
अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम्॥
आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपजीवति।
न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारं नार्यसती यथा॥

(भा० १०, २४, १४-१६)

अर्थात् यदि कर्मफल रूपी ईश्वर के अतिरिक्त कोई अन्य ईश्वर है, तो वह भी कर्म के कर्ता को ही फल देता, अकर्ता को देने में वह असमर्थ है। सभी जीव अपने अपने कर्म में लगे हुये, सभी मनुष्य अपने अपने स्वभाव विहित कर्म कर रहे हैं।

इस सबको मिटाने में इन्द्र असमर्थ है। अतः इन्द्र से क्या प्रयोजन? मनुष्य स्वभावतंत्र में जकड़ा है, स्वभाव का ही अनुगमन करता है। इसी स्वभाव में ही देव, असुर और मनुष्य सभी स्थित हैं। कर्म के अनुसार ही ऊँच-नीच शरीरों की प्राप्ति होती है। अतः कर्म ही गुरु है, वही ईश्वर है और कर्म ही शत्रु, मित्र और उदासीन है। अतः स्वकर्म को करते हुये स्वभाव में स्थित होकर मनुष्य को कर्म की पूजा करनी चाहिये। जिससे उसका जीवन सुगमता से चलता है, वही उसका देवता है। आजीविका के एक मात्र साधन कर्म (भाव) को छोड़कर जो अन्य की उपासना करता है उसको जार की उपासना करने वाली असती की भाँति सुख नहीं मिलता।

सामाजिक सगठन में श्रम रूपी रोहित अग्नि के जिस समिद्ध अग्नि का उल्लेख इस अध्याय के प्रारम्भ में किया गया है। वह भी वस्तुतः समाज का स्वभाव–स्व का भाव (विकास)-ही है। अब प्रश्न यह उठता है कि समाज का यह स्व क्या है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, उसमें कौन २ तत्त्व योग देते हैं, और उसका भाव (विकास) कैसे होता है। जैसा कि ऊपर कह चुके समाजत्व का आदर्श तो उसके सभी व्यक्तियों के 'अहम्' का अति विस्तार चाहता है और उन सबको एक आदर्श कुटुम्ब की भांति, आचरण करते हुये देखना चाहता है। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति में लोकत्व से भिन्न समाजत्व का उदय ही समाज का स्वरूप है और उसकी विशेषता है

अन्योन्याश्रयत्व। इसके विकास को समझने के लिये निम्न लिखित विकास-क्रम से सहायता ली जा सकती है :—

लोक में समाजत्व का विकास

(१) सत्यम्—प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अपने में अपूर्णता का अनुभव—और आवश्यकता पूर्ति के लिये स्वयं असमर्थ होने की अनुभूति।

(२) तपः—प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दूसरे के श्रम-फल में अपनी आवश्यकता पूर्ति देखना और उसको पाने की इच्छा।

(३) जनः—प्रत्येक व्यक्ति द्वारा दूसरे की आवश्यकता पूर्ति के लिये भी श्रम करने का निश्चय।

(४) महः—श्रम द्वारा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अन्यों के लिये भी श्रम फल—सामग्री और सेवा उत्पन्न करना।

(५) स्वः—व्यक्तियों में एक दूसरे के श्रम-फलों के आदान-प्रदान की इच्छा

(६) भुवः—परस्पर श्रम फलों का आदान-प्रदान का निश्चय

(७) भूः—व्यक्तियों द्वारा श्रम-फलों का आदान-प्रदान।

(ख) ह्रास के लोक

विकास के साथ ह्रास भी बँधा हुआ है। अतः विकास के लोकों के साथ ह्रास के भी लोकों की कल्पना की गई है। हम देख चुके हैं कि विकास में अव्यक्त से व्यक्त, सुप्त से जागृत और 'अहं' से स्व' की ओर प्रगति हुई है। ह्रास में विकास

का संकोच नहीं विस्तार होता है—उसमें व्यक्त से अतिव्यक्त, जागृत से अतिजागृत तथा स्व से पर की ओर प्रगति होती है। अरणियों या प्रस्तरों में सुपुप्त अग्नि जब घर्षण के ताप से सचेष्ट होकर मुस्कराई और ज्वाला हो कर खिलखिलाई, तो यह उसका विकास था—वह अव्यक्त से व्यक्त, सुपुप्त से जागृत हो रही थी; 'अहम्' से 'स्व' का विस्तार कर रही थी; अर्चि से महा अर्चि अग्नि से महा अग्नि बन रही थी। परन्तु जभी अर्चि ने अपने 'स्व' में से उठते हुये धूम्र* को देखा, तो 'स्व' में से 'पर' निकल पड़ा। इसी धूम्र का पीछा कीजिये, इसी 'पर' की प्रगति को परखिये, तो आप ह्रास के दर्शन करेंगे। अग्नि का उक्त विकास किसी आधार पर टिका है अरणी समिधा, सामग्री आदि को धारण करने वाले भूतल पर आश्रित है, परन्तु 'ह्रास' के प्रारम्भ होते ही—धूम्र के उठते ही यह 'तल' (आधार) छूट जाता है। ह्रास का यही 'अतल' (तलहीन) लोक है। धूम्र उठकर फैलता है, 'विगत-तल' होता है और 'वियत-तल' में फैलता है; यही उसका 'वितल' लोक है। धूम्र* बादल में परिणत होता है, तो उसे फिर 'तल' मिलता है और अच्छा (सु) तल मिलता है। यही ह्रास का 'सुतल' लोक है। बादल जलरूप में बरस पड़ता है और पुनः रसा (पृथ्वी) के तल को स्पर्श करता है। यह ह्रास का 'रसातल' लोक है। रसातल को प्राप्त जल वह निकलता है—तल को छोड़कर फिर

---

* धूम्र के अन्तर्गत वाष्प भी सम्मिलित है।

तल (भूतल) और (वायु के संयोग से) अतल (अंतरिक्ष) में रेलपेल मचा देता है। यही 'तलातल' लोक है। बहता-बहता जल समुद्र के 'महातल' से संपर्क स्थापित करता है। यही 'महातल' लोक है। अब जरा ध्यान देकर देखिये, अग्नि-लोक से समुद्र-लोक तक की, धूम्र की यात्रा को निरखिये, तो आप देखेंगे कि कितना बड़ा परिवर्तन हुआ है—दाहमय आग्नेय धूम्र से शैत्यमय जल रूप में आना कितना बड़ा पतन है; और समुद्र की तली में पहुँचकर तो जल पतन के घोर गर्त में पहुंच जाता है। अतः इस अवस्था को 'पाताल' लोक कहते हैं!

इस प्रकार ह्रास के सारे लोकों की कल्पना यज्ञ-धूम के विस्तार के आधार पर आश्रित प्रतीत होती है। सामाजिक दृष्टि से विश्लेषण करने पर, हम देखते हैं कि अग्नि से ही दो तत्त्वों की उत्पत्ति हुई– एक अर्चि, दूसरा धूम्र। इनको हम क्रमशः स्वतत्त्व और परतत्त्व कह सकते हैं। परतत्त्व (धूम्र) स्वतत्त्व (अर्चि के प्रकाशकत्व) को विफल करने की शक्ति लेकर अतल में उठता है। परन्तु, फिर भी उसमें 'स्वतत्त्व' का कुछ अंश (दाहकत्व) विद्यमान होता है। इस बचे हुये अंश को भी नष्ट करने के लिये वह मानो 'अतल' में फैलकर ठंडा होता है और इस प्रकार अग्नि के 'स्वत्त्व' (दाहकत्व–प्रकाशकत्वमय) को अपने में से पूर्णतया निकालकर 'सुतल' में 'परतत्त्व' बनने की तैय्यारी 'बादल' के रूप में करने लगता

है। 'रसातल' में तो वह जल होकर अग्नि के 'पूर्णतया परतत्त्व' में परिणत हो जाता है। इस प्रकार 'स्वतत्त्व' के विनाश और 'परतत्त्व' के विकास का परिणाम है पतन; अतः शुद्ध परतत्त्व हुआ 'जल' रूप 'धूम्र', तलातल और महातल में होता हुआ 'पाताल' के घोर गर्त में जा गिरता है।

इस विश्लेषण से स्पष्ट है कि ह्रास के लोकों में से, प्रथम तीन में तो 'परतत्त्व' का विकास है। इस पर का परत्व इसी में है कि यह अग्नि के उक्त 'स्व' का विरोधी है। परन्तु, ह्रास यहीं नहीं रुकता—आगे अन्तिम तीन लोकों में यही 'परतत्त्व' इस सीमा तक बढ़ता है कि वह 'पर' न होकर 'अपर' हो जाता है—अग्नि के 'स्व' को नष्ट करने की क्षमता रखते हुये भी 'पाताल' के महागर्त में गिरकर कर निष्क्रिय होने में लग जाता है।

समाज में भी ह्रास के ये लोक देखे जा सकते हैं। समाजत्व के विकास में हम देख चुके हैं कि 'भूः' लोक में अन्योन्याश्रयत्व पूर्णरूप में होता है। अन्योश्रयत्व समाज के नाना व्यक्तियों में 'एकत्व' की भावना प्रेरित करता है। यही 'एकत्व' समाज का नारायणत्व है; यही समाज रूपी अग्नि की अर्चि या स्वतत्त्व है। परन्तु, 'स्वतत्त्व' के साथ ही 'परतत्त्व' भी रहता है—एकत्व रूपी अर्चि के साथ ही अनेकत्व प्रसार कराने वाला व्यक्तिगत स्वार्थ रूपी धूम्र भी 'लाभ' के रूप में रहता है। यही व्यक्ति का 'नरतत्व' है। समाज के उचित विकास

के लिये नारायणत्व और नरत्व में समन्वय आवश्यक है। परन्तु, 'लाभ' रूपी नरत्व जब उठता है, तो वह इस समन्वय के तल को छोड़कर ह्रास के 'अतल' लोक की सृष्टि कर बैठता है। उक्त समन्वय की अवस्था में आदान और प्रदान रूपी दाहकत्व एवं प्रकाशकत्व के लिये सामाजिक श्रम रूपी अग्नि प्रज्वलित होता रहती है। परन्तु, 'लाभ' चाहता है कि व्यक्ति का 'आदान' अधिक हो 'प्रदान' कम; अतः इसके (लाभ धूम्र के) द्वारा सामाजिक श्रम रूपी अग्नि के प्रकाशकत्व पर पर्दा पड़ने लगता है। यही 'लाभ' रूपी धूम्र फैलकर 'लोभ' में परिणत होता है और ह्रास के 'वितल' लोक को उत्पन्न करता है। 'लोभ' प्रदान रूपी प्रकाश को पूर्णतया बन्द कर देना चाहता है; यहाँ विकसित होकर 'लोलुपता' में परिणत होकर ह्रास के 'सुतल' लोक को लाता है, जिसमें व्यक्तियों को एक मात्र 'आदान' की ही भूख रह जाती है।

लाभ रूपी 'धूम्र' को लोलुपता रूपी 'घनघटा' में परिणत होने का क्षेत्र वस्तुतः नर (व्यक्ति) का मन रूपी आकाश ही है। यह घनघटा अंत में 'सामाजिक व्यवहार' के 'रसातल' (धरातल) में उतरती है और ईर्ष्या-द्वेष की जल वृष्टि करती है। सामाजिक व्यवहार में ईर्ष्या द्वेष आने से चोरी-जारी, लूट-पाट आदि के रूप में स्तेय तथा हिंसा का राज्य होने से 'तलातल' लोक आजाता है। स्तेय और हिंसा के तलातल का परिणाम होता है व्यक्तियों के सामाजिक व्यवहार में

परस्पर संदेह और भय की वृद्धि। इसके कारण प्रत्येक व्यक्ति समाज में अपने को अकेला पाता है; प्रत्येक को अपने हित की ही चिंता हो जाती है। यही 'महातल' है, लोकत्व का समुत्कर्ष भीरुत्व है। 'महातल' का अवश्यंभावी परिणाम है घोर अराजकता और मत्स्यन्याय। यही सामाजिक व्यवहार का 'पाताल' है—पतन की चरम सीमा है।

(ग) चार युग

विकास और ह्रास के लोकों में क्रमशः तीन-तीन लोकों के चार भाग किये जा सकते हैं, जिनमें से दो विकास के भाग होंगे और दो ह्रास के और प्रत्येक के दो भागों के बीच में एक-एक संधि होगी। इन चारों भागों को समाजशास्त्रीय दृष्टि से चार युग कहा गया है :—

विकास	
लोक	युग
सत्य तपः जनः	सत युग
महः —	संधि
स्वः भुवः भूः	त्रेतायुग

ह्रास	
लोक	युग
अतल, वितल, सुतल	द्वापर
रसातल —	संधि
तलातल, महातल, पाताल	कलि

लोकों की इन चार त्रयियों की तुलना चार युगों के वर्णन से करने पर उक्त मत की पुष्टि भली भांति हो सकती है। हम देख चुके हैं कि प्रथम त्रयी में समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपने को अपूर्ण पाता है और उस अपूर्णता की पूर्ति के लिये सभी व्यक्ति सर्वथा सत्य, दया, तप और दान की भावना से युक्त होते हैं; यदि इस प्रकार की भावना व्यक्तियों में हों तो समाज में संतोष, सुख, शान्ति, करुणा, मैत्री आदि का साम्राज्य रहे। इसीलिये सतयुग का वर्णन करते हुये, भागवत पुराण कहता है "सत्ययुग में धर्म के चार चरण होते हैं; ये चरण हैं—सत्य, दया, तप और दान। लोग बड़े संतोषी और दयालु होते हैं। वे सबसे मित्रता का व्यवहार करते हैं और शान्त रहते हैं। इन्द्रियां और मन उनके वश में रहते हैं और सुख दुःखादि द्वंद्वों को वे समान भाव से सहन करते हैं। प्रायः लोग आत्माराम और समदर्शी श्रमण होते हैं। (१२, ३, १८-१९), विकास-लोकों की दूसरी त्रयी में, जैसा कि ऊपर कह चुके हैं, समाज के

व्यक्तियों में परस्पर अपने श्रम-फलों (सामग्री-सेवा) के आदान-प्रदान की इच्छा, उसका निश्चय तथा उसकी क्रिया रहती है; अतः स्वभावतः उसमें धर्म (कर्तव्य), अर्थ (सेवा-सामग्री का उत्पादन) और काम (अर्थ के आदान-प्रदान द्वारा कामनाओं की पूर्ति) का पालन होता है। जबकि सत्ययुग में केवल आदर्श भावना मात्र थी, इस युग में तदनुकूल त्रिवर्ग-साधन की घोर क्रिया होती है, जिसके फल-स्वरूप सत्य, दया, तप और दान के उक्त चार पादों में कुछ कमी अवश्य आजाती है। परन्तु, इतनी कमी, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) तथा तदाश्रित सामाजिक संगठन के लिये आवश्यक है। भागवत पुराण में त्रेता का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—"त्रेतायुग में धीरे धीरे धर्म के पादों (सत्य, दया, तप, दान) का चतुर्थांश, अधर्म-पादों—असत्य, हिंसा, असंतोष तथा कलह—के द्वारा क्षीण हो जाता है। लोग न तो अत्यंत हिंसक ही ही होते हैं और न लम्पट ही। लोग क्रिया और तप में रत रहते हैं और धर्म, अर्थ, काम रूप त्रिवर्ग के साधन में रत तथा ऋक (क्रिया), यजु (ज्ञान) और साम (इच्छा) रूप वेदत्रयी* की वृद्धि करने वाले होते हैं। यहाँ ब्रह्म-तत्त्व की प्रधानता होती है।

हास-लोकों को प्रथम त्रयी में हम देख चुके हैं कि लाभ, लोभ और लोलुपता का विकास होता है; अतः अर्थ और काम

---

*वैदिक दर्शन पृ० २६—३४

पर विशेष जोर दिया जाता है और हिंसा, असंतोष, असत्य, तथा द्वेष बढ़ जाता है। यही लोकत्रयी संभवतः त्रिवर्ग में से अर्थ और काम केवल दो को प्रधानता देने से द्वापर कहलाती है। भागवत पुराण में इस युग का वर्णन इस प्रकार किया गया है—'द्वापर युग में हिंसा, असंतोष, अनृत और द्वेष नामक अधर्म के चार चरणों की वृद्धि होती है और उनसे धर्म के चार चरण तप, सत्य, दया, दान—आधे-आधे ह्रास को प्राप्त हो जाते हैं। लोग यशस्वी, कर्मकाण्डी तथा स्वाध्याय और अध्ययन में प्रेम रखने वाले होते हैं। वे बड़े धनाढ्य, कुटुम्बी तथा हर्षोत्फुल वो होते हैं। इस युग में क्षत्र तथा ब्रह्म दोनों तत्त्वों की प्रधानता रहती है।" द्वापर के बाद आने वाला कलियुग ह्रास-लोकों की अन्तिम त्रयी के समकक्ष है, जिसमें हम देख चुके हैं कि समाज पतन की चरण सीमा पर पहुँच जाता है। इस युग में त्रिवर्ग में से केवल काम १ तथा सामाजिक व्यवहार के तत्त्वों में से शूद्रतत्त्व २ की प्रधानता होती है। धर्म के उक्त चारों पाद क्षीण होते-होते अंत में पूर्णतया लुप्त हो जाते हैं ३। लोग अत्यंत लोभी, दुराचारी, निर्दय शुष्कवैरी, दुर्भग तथा तृष्णालु होते हैं ४ और सर्वत्र तन्द्रा, निद्रा, हिंसा, विषाद, शोक, मोह, भय तथा दैन्य का बोलबाला होता है ५।

---

(१) भा० पु० १२, ३, ३१
(२) वही १२, ३, २५
(३) वही १२, ३, २४
(४ वही २, ३, २५
(५) वही १२, ३, ३०

युगभेद का कारण

हम देख चुके हैं कि ह्रास का मूल कारण है 'पर-तत्त्व' का उदय। यह पर-तत्त्व सत्व, रजः और तमः नामक गुणों के रूप में प्रकट होता है। भागवतपुराण में लिखा है—"पुरुष में तीन गुण होते हैं, सत्व, रज और तम। काल की प्रेरणा से समय समय पर शरीर, प्राण, और मन में उनका ह्रास और विकास भी हुआ करता है। जिस समय मन, बुद्धि और इंद्रियाँ सत्त्वगुण में स्थित होकर अपना अपना काम करने लगती हैं, उस समय सत्ययुग समझना चाहिये। सत्त्वगुण से मनुष्य ज्ञान और तपस्या में अधिक प्रेम करता है। जिस समय मनुष्यों की प्रवृत्ति और रुचि-धर्म, अर्थ और लौकिक-पारलौकिक सुख-भोगों की ओर होती है तथा शरीर, मन एवं इन्द्रियाँ रजोगुण में स्थित होकर काम करने लगती हैं उसी को त्रेता युग समझना चाहिये। जिस समय लोभ, असन्तोष, अभिमान, दम्भ और मत्सर आदि दोषों का बोलबाला हो और मनुष्य बड़े उत्साह तथा रुचि के साथ सकाम कर्मों में लगना चाहे, उस समय द्वापर युग समझना चाहिये। अवश्य ही रजोगुण और तमोगुण की मिश्रित प्रधानता का नाम द्वापरयुग है। जिस समय झूठ-कपट, तन्द्रा-निद्रा, हिंसा-विषाद, शोक-मोह, भय और दीनता की प्रधानता हो, उसे तमोगुण-प्रधान कलियुग कहते हैं।*"

---

* भा० पु० १२, ३, २६-३०।

(घ) नारी, नारायणी और बृहती

चतुर्युग तथा चतुर्दश लोकों में होने वाले उपर्युक्त विकास और ह्रास को यदि एक नाम दिया जाय तो उसे 'परिवर्तन' या 'विकार' कहा जा सकता है। ऊपर युग भेद का कारण हमने देखा। वह समाज के ही एक तत्त्व के विद्रोह का परिणाम है। समाज के 'अहम्' में दो तत्त्व हैं—एक 'स्व' या अस्मत् और दूसरा 'पर' या महत्। 'स्व' वह सामाजिक चेतना है, जो नाना व्यक्तियों के समूह को 'एक-अहम्' की अद्वैत कल्पना देती है। और इसके विपरीत, 'पर' व्यक्तियों के नानात्व पर जोर देकर, समाज की 'एक अहम्' भावना को कुण्ठित करना चाहती है। पहली को, नरों (व्यक्तियों) की समष्टि में व्याप्त नारायण ब्रह्म की नारायणी (शक्ति) कह सकते हैं, तो दूसरी को व्यक्ति में स्थित नर ब्रह्म की नारी (शक्ति) कहा जा सकता है। पहली को ही 'सु' भी कहते हैं जिसे विकसित कर मनुष्य 'सुर' बनता है, और दूसरी को 'असु' कहते हैं जिसे विकसित कर मनुष्य 'असुर' होता है। पहली के विकास से सुर-संपत्ति[१] का

१—अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नाऽतिमानता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत॥

विस्तार होकर उक्त 'स्वः' नाम के आधार पर [illegible]
है और दूसरी के विकास से असुर संपति[1] का विस्तार [illegible]
उक्त 'नर' शब्द के आधार पर 'नरक' की रचना [illegible]

यद्यपि व्यावहारिक दृष्टि से नारायणी और नारी [illegible]
पृथक शक्तियां कहा जा सकता है, परन्तु तत्त्वतः उनमें [illegible]
भेद नहीं हैं; वे दोनों एक ही शक्ति के दो पक्ष हैं—एक [illegible]
सिक्के के दो पहलू हैं। जिस प्रकार व्यष्टि का 'नर' समष्टि
के नारायण से भिन्न नहीं है, उसी प्रकार 'नारी' भी नारायणी
से अलग नहीं हैं। समाज के शुद्ध चैतन्य को यदि 'ब्रह्म' कहा
जाय, तो नारायण और नर उसी के दो स्वरूप हैं, और ब्रह्म
की शक्ति ब्रह्माणी या बृहती के ही दो पक्षों को नारायणी और
नारी कहा जा सकता है।

ब्रह्म की इस शक्ति के अनेक नाम निगम, आगम और
पुराण में आये हैं। इसी को ब्रह्मजाया, माया, महिमा, स्व,
उमा, प्रकृति, त्रिपुरसुन्दरी, देवी जगदम्बा, ललिता आदि कहा
गया है। अद्वैत और अव्यक्त ब्रह्म अपनी महिमा (शक्ति)
द्वारा व्यक्त होता है; मनुष्य अपने को किसी न किसी 'वाक्'
द्वारा व्यक्त करता है। अतः ब्रह्म अपने को जिस
महिमा द्वारा व्यक्त करता है उसे भी वाक् कहा
गया है। लिखा है कि 'वाक्' आत्मा की 'स्व' या महिमा
है[2], जिसके द्वारा वह 'एक से अनेक' होता है—अव्यक्त से

१—दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाऽभिजातस्य पार्थ सम्पदामासरीम्॥
२—श० ब्रा० १, ४, २, १७ आदि

व्यक्त होता है[1]। हम जिस वाणी को बोलते-सुनते हैं, वह शब्दार्थमयी वर्णात्मक स्थूल वाक् है और भीतरी सूक्ष्म वाक् का प्रत्यक्ष रूप है। अव्यक्त रूप में यही अवर्णा रहती है। शक्ति की भांति ही हमारी अन्य शक्तियां भी अव्यक्त से व्यक्त, सूक्ष्म से स्थूल होती हैं। अतः शक्तिमात्र को 'वाक्' तथा शक्तिमात्र के अव्यक्त से व्यक्त होने को, वाक् के ही रूपक का आश्रय लेकर, अवर्णा से सवर्णा होना कहा जाता है। श्वे० उ० लिखा है कि ब्रह्म एक और अवर्ण है, परन्तु अपनी शक्ति के योग से अनेक तथा नाना वर्णात्मक हो जाता है (एकोऽवर्णो: बहुधा शक्तियोगात्) भागवत् पुराण में स्पर्श, अन्तस्थ, उत्तम तथा स्वर वर्णों के रूपक द्वारा शब्दब्रह्मस्वरूप ब्रह्मा के शरीर का वर्णन किया गया है (३, १२, ४६-४८)

इसी प्रकार आगम-ग्रंथों में तो शक्ति को न केवल वाक्, अपितु नाद, शब्द, रव, स्वन आदि ऐसे ही अनेक नाम देकर ब्रह्म की शक्ति का विकास दिखलाया गया है। विष्णुसंहिता के अनुसार 'ज्योति' एक है जो अपनी 'माया' से अनेक रूपों में बदल जाती है[2]। अहिर्बुध्न्यसंहिता में यही माया 'पारमात्मिका अहंता' है, जो सारे जगत् का रूप धारण करती है।

१—ता० म० ब्रा० २, १४, २; का० सं० १२, ५; २७; १; श० ब्रा० २ ४, ४, १।

२—देवतेऽपरं ज्योतिरेक एव परः रूपान्।
स एव बहुधा लोके मायया भिद्यते स्वता ॥

कोई कोई आगम ग्रंथ सच्चिदानन्द ब्रह्म ओंकार से शक्ति, शक्ति से नाद, और नाद से विन्दु की उत्पत्ति बतलाते हैं (आसीच्छक्तिस्ततो नादोनादाद्विन्दुसमुद्भवः) शक्ति से सर्वप्रथम होने वाले इसकी 'महानाद' संज्ञा है और उक्त विन्दु का नाम 'अनाहतनाद' भी है (विन्दुरेव समाख्यातो व्योमानाहतमित्यपि), इसी अनाहत नाद या 'परविन्दु' से 'नाद' उत्पन्न होता है (भिद्यमानत्पराद्विन्दरव्यक्तरमारवोऽभवत्), यह नाद अव्याकृत अवस्था में होता है और व्याकृत होकर नाना वर्णों को जन्म देता है, जो 'कार्य-नाद' कहलाते हैं (वर्णात्मनाऽविर्भवन्ति गद्यादिभेदशः)। कुछ शैवागमों में व्यष्टि की शाक-सृष्टि के रूपक का आश्रय लेकर वर्णादिरूपी यावत्सृष्टि का वर्णन एक दूसरे ही ढंग से किया है-

शिव की शक्ति का नाम ज्ञान शक्ति है, जो सारी सृष्टि का निमित्त कारण है। शिव और शक्ति मिलकर शिव-शक्ति तत्त्व बनते हैं, जिससे परमेश्वर की परिग्रह शक्ति या क्रिया-शक्ति का जन्म होता है। परिग्रह-शक्ति विन्दु कहलाती है और सृष्टि का उपादान कारण है। यह विन्दु शुद्ध और अशुद्ध दो प्रकार का है।

शुद्ध विन्दु को महाविन्दु या महामाया तथा अशुद्ध विन्दु को माया भी कहते हैं। शक्ति तथा विन्दु के सम्बन्ध को विकल्प या 'भेदज्ञान' कहते हैं। इसी विकल्प का आश्रय लेकर शिव शुद्ध विन्दु में क्षोभ पैदा करता है, जिससे शब्द और अर्थ की दो

धारायें चलती हैं। दोनों की पृथक पृथक चार अवस्थायें परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी होती हैं। शुद्ध विन्दु से होने वाली यह सृष्टि 'शुद्ध सृष्टि' कहलाती है। अशुद्ध विन्दु भी इसी प्रकार क्षुब्ध किये जाने पर अशुद्ध सृष्टि करता है और उससे शब्द और अर्थ की धारायें भी परा, पश्यन्ती, मध्यमा, तथा वैखरी इन चार अवस्थाओं में व्यक्त होती हैं। ये दोनों प्रकार की सृष्टियां जिस विन्दु से उत्पन्न हुई है वह 'अचित' है। अतः जब तक इन दोनों को पार नहीं कर लिया जाता तब, तक परमात्मा शिव का साक्षात्कार नहीं हो सकता।

इसी शक्ति का एक नाम वेद भी है।[1] जिसके द्वारा अपने को व्यक्त करके ब्रह्म देव कहलाता है (वेदेन देवोऽसि) वेद के ब्रह्म द्वारा व्यक्त होता है, तो पहले वह 'छन्दस्य पुरुप होता है, फिर वही ऋङ्मय, यजुर्मय, तथा साममय विराट पुरुप होजाता है (एप वच्छन्दस्य''''स उ ऋङ्मयः, यजुर्मयः, साममयो वैराज पुरुप) वायु पुराण के अनुसार भी ब्रह्म इस चतुष्पादं वेद को चार भागों में विभक्त करता है (वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा भजत् प्रभुः)। ये चारों वेद उक्त वाक् के चार रूपों (परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी) के समकक्ष है। परन्तु वस्तुतः जिस प्रकार 'परा' में पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी सूक्ष्म रूप से समाहित

---

(१) वा० पु० १, ४, ५, वैदिक दर्शन, पृष्ठ २६।

हैं) उसी प्रकार छन्दस्य[1] (अथर्व वेद) में अन्य वेद सूक्ष्म रूप से अन्तर्निहित है। यही कारण है कि वेद में केवल 'त्रयी' ही समझी जाती है।[2] नारायणार्थोपनिषद् से पता चलता है कि शक्ति के विस्तार-स्थिति-संकोच में काम करने वाली क्रिया-शक्ति को ऋग्वेदशिर, विविध क्रियाओं के कर्ताओं में एक ही सत्ता के ज्ञान को यजुर्वेद शिर, इच्छाशक्ति द्वारा प्राप्त होने वाले अमृत के आनन्द को सामवेद शिर तथा परा शक्ति द्वारा प्राप्त होने वाले कारण पुरुष की अनुभूति को अथर्ववेद शिर कहा गया है। दुर्गासप्तशती में क्रियाशक्ति की अधिष्ठात्री महाकाली को ऋग्वेदस्वरूपिणी ज्ञानशक्ति की देवी महालक्ष्मी को यजुर्वेद स्वरूपिणी तथा सौन्दर्यानुभूति कराने वाली इच्छा शक्ति की अधिष्ठात्री महासरस्वती को सामवेद-स्वरूपिणी बतलाया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि ऋक्, यजु, साम क्रमशः क्रिया, ज्ञान तथा इच्छा शक्ति से सम्बन्ध रखते हैं ।

इच्छा ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों के अन्तर्गत मनुष्य का सारा व्यवहार आता है, अतः समाजशास्त्रीय दृष्टि से उनके

---

(१) वैदिक दर्शन २६-३४

तु० क० छन्दांसि नाम क्षत्रिय तान्यथर्वा,
पुरा जगौ महर्षिद्धसंघः।
छन्दोविदस्ते उ उतनाऽधीत वेदा,
न वेदवेद्यस्य विदुर्हितत्त्वम् ॥
(म० भा० भी० ४३, ५०.)

(२) त्रयो विद्यावेत्तेत वेदे सूक्ष्मथाङ्गशः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतः यजुषाऽथर्वास्तथा ॥

अध्ययन का बहुत महत्त्व है परन्तु इच्छा, ज्ञान क्रिया से प्रसूत मनुष्य का सारा व्यवहार अत्यत महत्त्व पूर्ण होने पर भी 'त्रिपुर' के अन्तर्गत ही आजाती है, परब्रह्म या पर शिव के साक्षात्कार के लिये 'त्रिपुर' का विनाश आवश्यक है। इसीलिये इस शक्ति-त्रयी की प्रतीक वेद-त्रयी को मुंडक उपनिषद् केवल 'अपरा विद्या' ही मानती है और महाभारत तथा उपनिषदों में अनेक स्थलों पर वेद-त्रयी को ब्रह्म-साक्षात्कार के लिये निरर्थक ही बतलाया गया है।[1] वेद-त्रयी अथवा इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक आचरण तो ब्रह्मज्ञान में साधन का ही काम कर सकता है, स्वयं साध्य नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से महाभारत के इस श्लोक में व्यक्त किया गया है:—

धामांशभागस्य तथा हि वेदा यथा च शाखा महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथामनन्ति तस्मिन्हिसत्ये परमात्मनोऽर्थः॥

यही शक्ति नाना रूप में देवी के नाम से पूजी जाती रही है। खड्गिणी, गदिनी, शूलिनी, कपालिना, महिषमर्दिनी, वीणा-वादिनी, मायूरी, हंसिनी आदि अनेक रूपों में इसी एक शक्ति या देवी का वर्णन मिलता है; परन्तु इन सब रूपों, में वही एक देवी या शक्ति है जो व्यष्टि और समष्टि में माया, चेतना, बुद्धि, निद्रा, क्षुधा, छाया, तृष्णा, क्षान्ति, जाति, लज्जा, श्रद्धा, कान्ति, वृत्ति, स्मृति, दया, तुष्टि, मातृ, लक्ष्मी, भ्रान्ति, आदि के रूप में अथवा यूँ कहें कि समस्त चितिरूप से संपूर्ण जगत्

(१) मु० उ० १, १, ५; प्र० उ० १, ४, २, भ० गी० २, ४१-५३ म० भा० उ० प० ४१—४६, इत्यादि।

में व्याप्त हो रही है (चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत्) इस देवी का सर्वोत्तम सामाजिक रूप दुर्गासप्तशती की निम्नलिखित पंक्तियों में देखा जा सकता है :—

या देवी सर्वभूतेषु विष्णुमायेति शब्दिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु चेतनेत्यभिधीयते ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु बुद्धिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ।
या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु क्षुधारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु छायारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु तृष्णारूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु क्षान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥
या देवी सर्वभूतेषु जातिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

या देवी सर्वभूतेषु लज्जारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु शान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु श्रद्धारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

यो देवी सर्वभूतेषु लक्ष्मीरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु वृत्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु स्मृतिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्ये नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु दयारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु तुष्टिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु मातृरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

या देवी सर्वभूतेषु भ्रान्तिरूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः॥

इन्द्रियाणामधिष्ठात्री भूतानां चाखिलेषु या ।
भूतेषु सततं तस्यै व्याप्तिदेव्यै नमोनमः ॥
चितिरूपेण या कृत्स्नमेतद् व्याप्य स्थिता जगत् ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमोनमः ॥

(ङ) मन्वन्तर

लोकों और युगों के समान भारतीय विकासवाद में मन्वन्तरों की कल्पना भी है। प्रत्येक मन्वन्तर का स्वामी एक मनु होता है, जिसके नाम पर ही मन्वन्तर का नामकरण होता है[1]। प्रत्येक मन्वन्तर में देवगण[2], सप्तर्षि[3] और मनुपुत्र पृथक होते हैं और प्रत्येक मन्वन्तर में विष्णु का अवतार भी भिन्न होता है[4]। हर मन्वन्तर का इन्द्र बदलता रहता है। कुल मन्वन्तरों की संख्या १४ है; मन्वन्तरों की कल्पना को समझने के लिये सभी मन्वन्तरों का संक्षिप्त परिचय कर लेना आवश्यक है। अतः प्रत्येक का विवरण अलग अलग दिया जाता है :—

(१)

मनु :—स्वायंभुव मनु (ब्रह्मा के पुत्र)
पुत्र :—प्रियव्रत और उत्तानपाद।

१—पा० पु० २६, ३०; ६३. ५-१२
२—वा० पु० ६६, ६४-५.
३—वा० पु० १००, १० अनु०
४—वा० पु० ६६, १२८-१३५,

पुत्रियाँ :—आकूति, देवहूति तथा प्रसूति।

देवगण :—रुद्रादि (?)

सप्तर्षि :—नारदादि (?)

इन्द्र :—(?)

अवतार :—कर्दम की पत्नी देवहुति से 'कपिल'

कर्म :—सृष्टि-विस्तार तथा वर्णाश्रम धर्म

(२)

मनु :—स्वारोचिष मनु (अग्नि के पुत्र)

पुत्र :—द्यु मान्, सुषेण, रोचिष्मान्।

देवगण :—तुषित

सप्तर्षि :—ऊर्ज, स्तम्भ, आदि वेदवादी गण

इन्द्र :—रोचन

अवतार :—विभु (वेदशिरा ऋषि की पत्नी तुषिता के गर्भ से)

कर्म :—विभु भगवान् आजीवन नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहे।

(३)

मनु :—उत्तम (प्रियव्रत के पुत्र)

पुत्र :—पवन, सृञ्जय, यज्ञहोत्र आदि।

देवगण :—सत्य, वेदश्रुत तथा भद्र।

सप्तर्षि :—वसिष्ठ पुत्र प्रमदादि।

इन्द्र :—सत्यजित।

अवतार :—धर्म की पत्नी सूनृता के गर्भ से सत्यसेन।

कर्म :—सत्यजित इन्द्र के सखा बनकर भगवान् ने यक्षों, राक्षसों और भूतों का संहार किया।

(४)

मनु :—तामस (उत्तम के भाई)

पुत्र :—ख्याति, नर, केतु, आदि।

देवगण :—सत्यक हरि, वीर आदि।

इन्द्र :—त्रिशिख।

सप्तर्षि :—वैधृति जिन्होंने नष्टप्राय वेदों को बचाया।

अवतार :—हरिमेध ऋषि-पत्नी हरिणी के गर्भ से 'हरि'।

कर्म :—गजेन्द्र-मोक्ष।

(५)

मनु :—रैवत (तामस के सहोदर)

पुत्र :—अर्जुन, बलि, विन्ध्य।

देवगण :—भूतिरय आदि।

सप्तर्षि :—हिरण्यरोमा, वेदशिरा, ऊर्ध्वबाहु आदि।

इन्द्र :—विभु।

अवतार :—शुभ्रपत्नी विकुण्ठा' से वैकुण्ठ भगवान।

कर्म :—वैकुण्ठ लोक की सृष्टि।

(६)

मनु :—चाक्षुष (चक्षु के पुत्र)

पुत्र :—पुरु, पुरुष, सुपुम्न आदि।

देवगण :—आप्य आदि।

सप्तर्षि :—हविष्यमान, वीरक आदि।

इन्द्र :—मन्त्रद्रुम

अवतार :—वैराज्य पत्नी सम्भूति से 'अजित' भगवान्

कर्म :—समुद्र-मन्थन, कच्छपरूप में मन्दराचल-धारण।

(७)

मनु :—विवस्वत पुत्र श्राद्धदेव मनु

पुत्र :—इक्ष्वाकु, नभग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करूप, पृषध्र, वसुमान्।

देवगण :—आदित्य, वसु, रुद्र, विश्वेदेवा, मरुद्गण, अश्विनौ, ऋभवः।

सप्तर्षि :—कश्यप, अत्रि, वसिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि और भरद्वाज।

इन्द्र :—पुरंदर

अवतार :—कश्यप-पत्नी अदिति के गर्भ से वामन भगवान्।

कर्म :—वलि-बन्धन

(८)

मनु :—सावर्णि (विवस्वान् और छाया के पुत्र)

पुत्र :—निर्मोक, विरजस्क

देवगण :—सुतपा, विरज, अमृतप्रभ।

सप्तर्षि :—गालव, दीप्तिमान् परशुराम, अश्वत्थामा, कृपाचार्य ऋष्यशृंग और व्यास।

इन्द्र :—विरोचन पुत्र वलि।

अवतार :—देवगुह्य की पत्नी सरस्वती के गर्भ से सार्वभौम भगवान्।

कर्म :—पुरंदर इन्द्र से स्वर्ग का राज्य छीनकर राजा बलि को देना।

(६)

मनु :—दक्ष सावर्णि (वरुण के पुत्र)

पुत्र :—भूतकेतु, दीप्तकेतु।

देवगण :—पार, मरीचि गर्भ आदि।

सप्तर्षि :—द्युतिमान् आदि।

इन्द्र :—अद्भुत।

अवतार :—आयुष्मान् की पत्नी अम्बुधारा के गर्भ से ऋषभ का कलावतार।

कर्म :—इन्द्र को त्रिलोकीदान।

(१०)

मनु :—उपश्लोक के पुत्र ब्रह्म सावर्णि।

पुत्र :—भूरिषेण आदि।

देवगण :—सुवासन, बिरुद्ध आदि।

सप्तर्षि :—हविष्मान् सुकृति, सत्य, नय, मूर्ति आदि।

इन्द्र :—शम्भु।

अवतार :—विश्वसृज् की पत्नी विषूची के गर्भ से विष्वक्सेन का अंशावतार।

कर्म :—शम्भु नामक इन्द्र से मैत्री।

(११)

मनु :—धर्म सावर्णि (अति संयमी)

पुत्र :—सत्य, धर्म आदि।

देवगण :—विहंगम कामगम निर्वाणरुचि आदि।

सप्तर्षि :—अरुण आदि।

इन्द्र :—वैधृत।

अवतार :—आर्यक की पत्नी वैधृता के गर्भ से धर्मसेतु का अंशावतार।

कर्म :—त्रिलोकी की रक्षा।

(१२)

मनु :—रुद्र-सावर्णि ।

पुत्र :—देववान्, उपदेव, देव श्रेष्ठ आदि

देवगण :—हरित आदि।

सप्तर्षि :—तपोमूर्ति, तपस्वी, आग्नीध्रक आदि।

इन्द्र :—ऋतधामा।

अवतार :—सत्यसहा की पत्नी से स्वधामा का अंशावतार।

कर्म :—मन्वन्तर का पालन।

(१३)

मनु :—देव सावर्णि।

पुत्र :—चित्रसेन, विचित्र आदि।

देवगण :—सुकर्म, सुत्राम आदि।

सप्तर्षि :—निर्मोक, तत्त्वदर्शा आदि।

इन्द्र :—दिवस्पति।

अवतार :—देवहोत्र की पत्नी बृहती से योगेश्वर का अंशावतार

कर्म :—दिवस्पति को इन्द्रपद देना।

(१४)

मनु :—इन्द्र सावर्णि

पुत्र :—उरु, गम्भीरबुद्धि आदि।

देवगण :—पवित्र, चाक्षुष आदि।

सप्तर्षि :—अग्नि, बाहु, शुचि, शुद्ध और मागध।

इन्द्र :—शुचि।

अवतार :—सत्रायण की विताना के गर्भ से बृहद्भानु।

कर्म :—कर्मकाण्ड का विस्तार।

मन्वन्तरों का रहस्य

मन्वन्तरों के उपर्युक्त संक्षिप्त वर्णन से उनके रहस्य का कोई विशेष पता नहीं चलता। परन्तु यत्रतत्र पुराण और वैदिक साहित्य में ऐसे उल्लेख आते हैं जिनकी सहायता से इन संक्षिप्त वर्णनों का भी कुछ स्पष्टीकरण होता है। भागवतपुराण में शुकदेवजी परीक्षित से कहते हैं—"परीक्षित! मनु, मनुपुत्र सप्तर्षि, और देवता—सब को नियुक्त करने वाले स्वयं भगवान् ही हैं। राजन्! भगवान् के जिन यज्ञ-पुरुष आदि अवतार-शरीरों का वर्णन मैंने किया है, उन्हीं की प्रेरणा से मनु आदि विश्व-व्यवस्था का संचालन करते हैं। चतुर्युगी के अन्त में समय के उलट-फेर से जब श्रुतियाँ नष्टप्राय हो जाती हैं, तब सप्तर्षिगण अपनी तपस्या से पुनः उनका साक्षात्कार करते हैं, जिनसे सनातन धर्म चलता है। भगवान् की प्रेरणा से अपने—अपने मन्वन्तरों में बड़ी सावधानी से सब के सब मनु पृथ्वी पर

चारों चरण से परिपूर्ण धर्म का अनुष्ठान कराते हैं। मनुपुत्र मन्वन्तर भर काल और देश दोनों का विभाग करके प्रजापालन तथा धर्मपालन का कार्य करते हैं। पञ्चमहायज्ञ आदि कर्मों में जिन ऋषि, पितर, भूत और मनुष्य आदि का सम्बन्ध है—उनके साथ देवता उस मन्वन्तर में यज्ञ का भाग स्वीकार करते हैं। इन्द्र भगवान द्वारा दी हुई त्रिलोकी की अतुल सम्पत्ति का भोग, और प्रजापालन करते हैं और काम की वर्षा करते हैं। भगवान् युग-युग में सनक आदि सिद्धों का रूप धारण करके ज्ञान का, याज्ञवल्क्य आदि ऋषियों का रूप धारण करके कर्म का और दत्तात्रेय आदि योगेश्वरों के रूप में योग का उपदेश करते हैं। वे मरीचि आदि प्रजापतियों के रूप में सृष्टि का विस्तार करते हैं, स्वराट् के रूप में लुटेरों का वध करते हैं और विभिन्न गुणों का धारण करके काल रूप से सबका संहार करते हैं।" (भा० पु० ८, १४, १—१०)।

इस वर्णन से यह तो स्पष्ट ही है कि मन्वन्तरों द्वारा परिवर्तनशील विश्व-व्यवस्था अथवा समाज-व्यवस्था की कल्पना की गई है, जिसमें मनु प्रमुख संचालक है, मनुपुत्र सह-व्यवस्थापक हैं; ऋषिगण श्रुति-साक्षात्कारक हैं, देवता यज्ञ-भाग लेने वाले हैं, इन्द्र ऐश्वर्य का भोक्ता, त्रिलोकी का पालक तथा कामनाओं की वृष्टि करने वाला है; और भगवान् के अवतार ज्ञान, कर्म या योग का उपदेश करने वाले हैं। यद्यपि यहाँ ये सब प्रभु (ब्रह्म) की प्रेरणा से कर्म करने वाले कहे गये हैं, परन्तु अन्यत्र मनु के विषय में कहा गया है :—

नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते।
वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥
योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्म प्रचेतसाम्।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥

"देव आप भगवान् विष्णु की पालनशक्ति है; इसलिये आपका घूमना-फिरना निःसन्देह सज्जनों की रक्षा और दुष्टों के संहार के लिये ही होता है। आप स्थान स्थान पर सूर्य, चन्द्र अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म और वरुण आदि रूप धारण करने वाले शुक्ल हैं; आपको नमस्कार है।" इससे प्रतीत होता है कि मनु स्वयं विष्णु (शुक्ल) हैं अथवा उनकी वह पालिनी-शक्ति हैं, जिसमें पिंडाण्ड और ब्रह्माण्ड की, व्यष्टि और समष्टि कीइच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों का समवेत एवं संयुक्त रूप विद्यमान है और जो स्वयं चन्द्र, सूर्य, अग्नि आदि उक्त शक्तियों के रूप में प्रकट होती है। अतएव प्रत्येक मन्वन्तर में मनु को समष्टिगत नारायण की पालिनी मनीषा का प्रतीक माना जा सकता है; यही समाज की क्षत्र[1] शक्ति है जो सारे समाज में

---

(१) तु० क० मनु का कथन कर्दम के प्रति:—

ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मदरीप्सया।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटात् ॥
तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात्।
हृदयंतस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥
अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥

विभक्त होकर विद्या, दान, तप तथा सत्य रूपों में धर्म के चारों पदों का पालन करने वाले मनुपुत्र कहे गये हैं। यही मनीषा समाज के ज्ञान के रूप में चिरनवीन होकर अभिव्यक्त होती रहती है; इसी से समाज-धर्म की स्थापना और रक्षा होती है · इस अभिव्यक्ति के प्रतीक ही सप्तर्षि हैं, जो प्रत्येक मन्वन्तरों में नष्टप्राय श्रुतियों का उद्धार करने वाले कहे गये हैं। समाज की नाना क्रियाओं के रूप में जो महान श्रमयज्ञ चल रहा है उसका प्रमुख करता यही मनु है, समाज की मनीषा है जिसके प्रमुख सहायक सप्त-विध ज्ञानशक्ति के प्रतीक सप्तर्षि हैं। देवगण समाज के भोक्तारूप के द्योतक हैं; समाज के सारे क्रिया—यज्ञ में भाग लेने वाली सामाजिक शक्तियाँ ही देवता हैं। दूसरे रूप में यही शक्तियाँ समाज का बल हैं जिनका प्रतीक देवपति इन्द्र है जो रक्षा—भार ग्रहण करता है। ये सब शक्तियाँ समाज की परंपरा-गत व्यवस्था की ही रक्षा कर सकती है, परन्तु प्रत्येक मन्वन्तर को विशेषता देने वाला विष्णु-अवतार है जो ज्ञान, कर्म, योग आदि का प्रचार करते हुये समय के अनुकूल इन्द्र आदि की नियुक्ति करता है। अतः 'अवतार' सामाजिक क्रांति का प्रतीक है। परन्तु, वस्तुतः ये सब देव, मनु, सप्तर्षि मनुपुत्र और इन्द्र, सबके सब विष्णु भगवान् की ही विभूतियाँ हैं:—

सर्वे च देवा मनवस्समस्ता-
स्सप्तर्षयो ये मनुसूनवश्च।
इन्द्रश्च योऽयं त्रिदशेशभूतो
विष्णोरशेषास्तु विभूतयस्ताः॥

(वि० पु० ३, ७, ४६)

क्योंकि सारे मन्वन्तरों में देवरूप से स्थित विष्णु की अनुपम और सत्त्वप्रधाना शक्ति ही संसार की स्थिति का कारण है॥। पुराणों में कहा गया है संसार की नित्य-प्रलय नित्य-सृष्टि और नित्य-स्थिति क्रमशः रुद्रों, प्रजापतियों तथा मनु आदि विष्णु रूपों द्वारा होती है (वि० पु० १, ७, ३६-३८) अहर्निशि निरन्तर रूप से होने वाले प्रलय, सृष्टि और स्थिति (पालन) के व्यापारों को ही नित्य कहा जाता है (वि० पु० १, ७, ३६--४७) और यह क्रिया समाजशास्त्रीय दृष्टि से समष्टिगत नरायण की शक्ति (जो मनीषा, चेतना, दक्षता आदि अनेक नामों से पुकारी जाती) के द्वारा ही संपादित होता हुआ कहा जा सकता है। इसीलिये मनु-पुत्री आकूति तथा प्रसूति और उन दोनों की सतानें यही अध्यात्मिक और भौतिक शक्तियाँ जिन पर समाज का सारा व्यापार अवलंबित है— प्रसूति की पुत्रियों के नाम श्रद्धा, लक्ष्मी, धृति, तुष्टि, मेधा, पुष्टि, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि हैं, जिनके पति धर्म हैं। इनके अतिरिक्त ख्याति, सती, सम्भूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, सन्तति, अनसूया, ऊर्ज्जा; स्वाहा और स्वधा भी प्रसूति की कन्यायें हैं। श्रद्धा का पुत्र काम, लक्ष्मी का दर्प; धृति का नियम; तुष्टि का सन्तोष; पुष्टि का लोभ; मेधा का श्रुत; क्रिया के दण्ड, नय

॥विष्णुशक्तिरनोपम्पा सत्त्वोद्रिक्ता स्थितौ स्थिता।
मनवन्तरेष्वेशेपु देवत्वेनाधितिष्ठति

(वि० पु० ३, १, ३५)

और विनय और व्यवसाय; शान्ति का क्षेम ; सिद्धि का सुख ; कीर्ति का यश और रति का हर्ष है। आकूति के यज्ञ और दक्षिणा हैं जिनसे उत्पन्न होने वाले याम देव संभवतः समाज की संयमन और नियमन शक्तियों के प्रतीक हैं।

(वि० पु० १, ७, २०—३१)

इस वर्णन से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है कि मन्वन्तरों के मनु, मनुपुत्र, सप्तर्षि और इन्द्र आदि वस्तुतः समाज में निरन्तर होने वाले व्यापारों की आधारभूत शक्तियाँ है। अतएव जिस प्रकार एक मत के अनुसार सत्त्व, रज, तम गुणों के प्राधान्य से चतुर्युगों की स्थिति निरंतर मानी गई है, उसी प्रकार मन्वन्तरों की स्थिति के विषय में भी कोई मत प्रतिपादित हुआ प्रतीत होता है। अतएव मन्वन्तरों तथा युगों के प्रचलित काल-परिमाण संभवतः इन शब्दों के ज्योतिशशास्त्र के सम्पर्क में कल्पित कर लिए गये। वस्तुतः समाज-शास्त्रीय मन्वन्तरों ओर युगों के किसी निश्चित काल परिमाण की कल्पना रही नहीं प्रतीत होती।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि मन्वन्तर मूलतः काल—परिमाण के बोधक नहीं हैं, तो मन्वन्तर भेद का क्या अभिप्राय है। इस विषय में ध्यान देने की एक बात है कि प्रथम सात मन्वन्तरों के मनु स्वयंभू (ब्रह्मा) के पुत्र स्वांभुव के वंशधर[१] हैं और द्वितीय सात मन्वन्तरों के मनुओं के नाम में सदैव 'सावर्णि' लगा रहता है[२]। शिव पुराण के अनुसार सूर्य की पत्नी 'संज्ञा'

---

(१) शि० पु० ३, १, २४—३४।

(२) शि० पु० ३, २, १—४०।

तथा उसकी 'छाया' से क्रमशः यम, यमी, और अश्विनौ के अतिरिक्त भिन्न भिन्न दो 'मनुओं' का जन्म हुआ, जिनमें से दूसरे मनु का नाम 'सावर्णि' हुआ[1]। अन्यत्र पुराणों में सञ्ज्ञा और छाया को ब्रह्मा या विवस्वान की पत्नियां भी कहा गया है; और बृहद्देवता तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में विवस्वान अपनी दो पत्नियों सरण्यू तथा सवर्णा (जो पहली की 'छाया' कही गई है) से यम-यमी, मनु तथा अश्विनौ उत्पन्न करते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'छाया' का ही दूसरा नाम सवर्णा भी था, जिसके कारण ही दूसरा मनु सावर्णि हुआ[2]। अतः इस निष्कर्ष पर पहुँचने के पर्याप्त कारण हैं कि चौदह मन्वन्तरों में वस्तुतः चौदह मनु न होकर केवल दो ही मनु थे, जिनमें पहला विवस्वान स्वयंभू या सूर्य की असली स्त्री का पुत्र था और दूसरा उसकी 'छाया' का। इसी बात को सम्भवतः आधुनिक भाषा में इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि सूर्य के प्रकाश और छाया की भांति 'मनु' जिस 'मनीषा' का प्रतीक है उसके भी धनात्मक तथा ऋणात्मक दो रूप हैं। इन्हीं दो रूपों का भारतीय संस्कृति में देवत्व तथा असुरत्व द्वारा भी व्यक्त किया गया है। और आश्चर्य की बात यह है कि 'सावर्णि' मनु के मन्वन्तर में असुरराज 'बलि' को इन्द्र बनाया जाता है।

इसी कल्पना को पुराणों में दक्ष (अथवा कहीं कहीं ब्रह्मा) के पुत्रद्वय धर्म तथा अधर्म एवं उनकी सन्तानों द्वारा दुहराया

---

(१) शि० पु० ३, २, ३—१३।

(२) पु० क० Pauranic Chronology, पृष्ठ २३—२४

गया है। धर्म ने अपनी श्रद्धा आदि पत्नियों से काम आदि पुत्र उत्पन्न किये उनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। अधर्म अपनी स्त्री हिंसा से अनृत तथा निकृति को जन्म देता है जिनके संयोग से भय और नरक उत्पन्न अपनी बहनों माया तथा वेदना से मृत्यु, रौरव, दुःख, व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा, क्रोध आदि को उत्पन्न करते हैं। इससे स्पष्ट है कि देव और असुर की भांति धर्म और अधर्म क्रमशः सामाजिक व्यवहार के प्रिय तथा अप्रिय, धारक तथा घातक, सुगतिमय तथा कुगतिमय पक्षों के द्योतक हैं। इसलिए भागवत पुराण में लिखा है कि सृष्टि के लिए धर्म, यज्ञ, मनु, तथा देवों के रूप में और प्रलय के लिए अधर्म, रुद्र, मन्युवश, असुर आदि के रूप में माया विभूतियां प्रकट होती हैं :—

सर्गे तपोऽहमृषयो नव ये प्रजेशाः
स्थाने च धर्ममखमन्वमरावनीशाः।
अन्ते त्वधर्महरमन्युवशासुराद्या,
माया विभूतय इमाः पुरुशक्तिभाजः॥
(२, ७, ३६)

यहाँ विचारणीय बात है कि धर्म का संबंध मनु से है जो निसन्देह प्रथम सात मन्वन्तरों में सर्वोपरि है; अधर्म का सम्बन्ध रुद्र और असुरों से है जो द्वितीय सात मन्वन्तरों में रुद्र सावर्णि तथा बलि के नामों में विद्यमान है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मन्वन्तरों के दो सप्तक क्रमशः धर्म और अधर्म या सुगति और कुगति की प्रगति के द्योतक है। जैन साहित्य में

प्रथम सात मनुओं (जिन्हें वहाँ कुलकर कहा गया है) को उत्सर्पिणी तथा दूसरे सात को अवसर्पिणी के अन्तर्गत रखकर संभवतः इसी कल्पना की पुनरुक्ति की गई है। यहाँ याद रखने की बात यह है कि ज्योतिष ग्रंथों में चौदह मन्वन्तरों को भी उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में विभक्त किया गया है।

परन्तु प्रकाश और छाया, उष्ण और शीत, देव और असुर, प्रिय और अप्रिय, की भाँति धर्म और अधर्म सापेक्षिक हैं और वस्तुतः दोनों एक ही वस्तु के दो पहलू हैं। इन दोनों सापेक्षिक कल्पनाओं के द्वन्द्व-निरपेक्ष रूप की कल्पना पुराणों में 'सद्धर्म' के रूप में की है।

वस्तुतः 'सद्धर्म' के दो सापेक्षिक रूप - धनात्मक तथा ऋणात्मक—धर्म और अधर्म की प्रगति ही चौदह मन्वन्तरों में दिखाई गई है; इसीलिये भागवतपुराण में मन्वन्तरों को 'सद्धर्म' (मन्वन्तराणि सद्धर्म ८, १०, १४) कहा गया है। अतः एक दृष्टि से मन्वन्तर को 'एक' ही कहा जा सकता है, क्योंकि सभी मन्वन्तरों का विषय एक सद्धर्म ही तो है; परन्तु दूसरी दृष्टि से मन्वन्तर की द्विविध कल्पना की जा सकती है, क्योंकि सद्धर्म के दो रूप हैं, धर्म और अधर्म। संभवतः प्रथम दृष्टि से ही वेद में मनु 'एक' हैं और दूसरी दृष्टि से पुराणों की भाँति ही दो भी, यद्यपि वहाँ उनके नाम 'आप्सव' तथा 'सावर्ण' हैं (ऋ० वे० ६, १०१, १०—१२, १०६, ७६), जिनका अर्थ अवर्ण (आपः की भाँति) और सवर्ण (रंगा हुआ) किया जा सकता

है। इन दो मनुओं को दो सप्तकों में विभाजित करने वाली पौराणिक दृष्टि भी संभवतः वेदों के उन द्विविध 'मनवः' में मिल सकती है जिनमें से एक तो 'धी' द्वारा पवित्र करने वाले कहे गये हैं और दूसरे 'हिरण्य सुवर्ण' से सम्बन्ध रखते हैं (ऋ० वे० ६, १६, १ ; १६, २६, २); यही भेद संभवतः ईशोपनिषद् की उस कल्पना के मूल में है—जिसके अनुसार 'सत्य' और सत्य के ढकने वाले 'हिरण्यमय पात्र' की कल्पना की गई है।

अतएव 'मन्वन्तर' का अर्थ समाजशास्त्रीय दृष्टि से संभवतः 'मनु का परिवर्तन' ही है—एक ही मनु अपने को विभिन्न रंगों में बदलता रहता है। इस मत की पुष्टि सबसे अधिक इस बात से होती है कि किसी किसी पुराण में मनुओं के प्रचलित नामों के अतिरिक्त उनके रंग-भेद पर आश्रित नाम भी 'वर्णतः मनवः' के अन्तर्गत दिये गये हैं। ये नाम क्रमशः ये हैं—(१) श्वेत (२) पाण्डु (३) रक्त (४) ताम्र (५) पीत (६) कपिल (७) कृष्ण श्याम (६) धूम्र (१०) सुधूम्र (११) अपिशंग (१२) पिशंग (१३) शवल और (१४) कालंधुर। इन नामों का जो क्रम है उससे स्पष्ट है कि १४ मनुओं (अथवा मनु-रूपों) में दो अत्यन्त (extremes) माने गये हैं—(१) श्वेत जो शुभ्रतम है, और (२) कालंधुर जो घोरतम काला है। अतः मनु का भेद (विकास या परिवर्तन) श्वेत और काले, प्रकाश और अन्धकार या देवत्व और असुरत्व के बीच होता हुआ माना गया है, सभी मनु (या मनुरूप) इन्हीं दोनों अत्यन्तों के बीच आजाते हैं। इसी

प्रकार की कल्पना महाभारत में युग-भेद के साथ भी जुड़ी हुई है; वहाँ पर 'नारायण' को रंग बदलने वाला दिखलाया गया है:—

आत्मा च सर्वभूतानां शुक्लो नारायणस्तदा।

ॐ ॐ ॐ

कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः।

ॐ ॐ ॐ

त्रेतामपि निबोध त्वं तस्मिन् सत्रं प्रवर्तते।
पादेन ह्रसते धर्मो रक्ततां याति चाऽच्युतः॥

ॐ ॐ ॐ

द्वापरे च युगे धर्मो द्विभागोन प्रवर्तते।
विष्णुर्वै पीततां याति ॐ ॐ ॐ ।
पादेनैकेन कौन्तेय धर्मः कलियुगे स्थितः।
तामसं युगमासाद्य कृष्णो भवति केशवः॥

(व० प० १४९ ; १७, २७, ३३)

इससे स्पष्ट है कि कृत, त्रेता, द्वापर, तथा कलियुगों में जिस प्रकार धर्म का ह्रास होता जाता है उसी प्रकार 'सर्वभूतानां आत्मा' नारायण भी क्रमशः शुक्ल, रक्त, पीत तथा कृष्ण होते जाते हैं; इसी प्रकार मन्वन्तर की कल्पना में भी मनु को 'आप्सव' से सावर्णि, शुभ्र से श्याम मनुत्व की ओर जाते हुये विभिन्न रंगों को धारण करने वाला कहा जा सकता था।

अब प्रश्न रह जाता कि मनु के इन दो रूपों—धन और ऋण—को १४ रूपों में क्यों विभक्त किया गया है। इसका

उत्तर साधारणतया तो यह है कि भारतीय परंपरा में विकास-ह्रास, उत्सर्पण-अवसर्पण या चढ़ाव उतार की प्रक्रिया को १४ अवस्थाओं में विभक्त करने की एक व्यापक प्रथा है इसका सबसे अच्छा उदाहरण १४ लोकों का है, जिसका विवेचन ऊपर हो चुका है। वहाँ हमने देखा कि समाजशास्त्रीय दृष्टि से १४ लोकों में 'मानवात्मा' के विकास-ह्रास के ही १४ स्तर हैं। जैन-दर्शन में १४ गुणस्थानों की कल्पना एक दूसरा उदाहरण है। इन[1] गुणस्थानों के नाम निम्नलिखित हैं :—(१) मिथ्यात्व (२) सास्वादन (३) मिश्र (४) अविरत (असंयत) सम्यक्दृष्टि (५) देशविरति संयतासंयत (६) प्रमत्तसयत (७) अप्रमत्तसंयत (८) निवृत्तिवादर (अपूर्वकरण) (९) अनिवृत्तिवादर (१०) सूक्ष्मसंपराय (११) उपशांत मोह (१२) क्षीणमोह (उपशांत कषाय) (१३) सयोगिकेवली (१४) अयोगिकेवली। जीव प्रथम गुणस्थान से चतुर्दश गुणस्थान की ओर आरोहण करता है—वहिरात्मा से परमात्मा के स्वरूप की ओर बढ़ता है। अतः ये १४ स्थान भी मानवात्मा के विकास ह्रास के ही स्तर है। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' के आधार पर जैनदर्शन में लोकाकाश (ब्रह्माण्ड) की पुरुषाकार कल्पना की गई है और उसके भी १४ भाग माने गये है[2]। जीवों के चतुर्दश मार्गणास्थान गति, इंद्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्य, भव्य, सम्यक्त्व सनिनि और आहार भी इसी प्रकार का एक उदाहरण है।

---

(१) गुणस्थानक्रमारोह: २, पं० चैनसुखदास कृत जैनदर्शन-सार, भूमिका पृष्ठ ५।

(२) देखिये—लोकनालिद्वात्रिंशिका'।

उक्त चौदह रूपों, स्तरों, गुणस्थानों आदि का रहस्य विशेष रूप से जैन-दर्शन के द्वादशार कालचक्र के विवरण में मिल सकता है। इस चक्र के १२ आरों को उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी में विभक्त करके छः छः के दो भाग कर दिये हैं, जिनमें से प्रत्येक का संबन्ध 'कुलकरों' (मनुओं) से रहता है। इस संबन्ध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि यहाँ काल को पहिये के समान घूमता हुआ माना गया है, जिसमें जो आरे नीचे हैं वे ऊपर भी जाते हैं और जो ऊपर हैं वे नीचे भी जाते हैं। इसलिये जिस क्रम से अवसर्पिणी में अवनति होती है उसके विपरीत क्रम से उत्सर्पिणी में उन्नति होती है[1]। उन्नति-अवनति का यही क्रम हमें मन्वन्तरों में भी दिखाई पड़ता है। वहाँ भी एक मन्वन्तर सप्तक में जिस क्रम से अवनति होती है, उसके विपरीत क्रम से दूसरे सप्तक में उन्नति प्रारंभ होती है। उदाहरणार्थ प्रथम सप्तक के अन्तिम मन्वन्तर में इन्द्रत्व इतना पतित हो जाता है कि वह महान तपस्वी असुरराज वलि के धर्मोत्कर्ष को भी सहन नहीं करता और उसे पाताल भिजवाता है; इसके विपरीत द्वितीय सप्तक के प्रारंभिक मन्वन्तर में उक्त देवराज इन्द्र को उतारकर उसी असुरराज वलि को इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित किया जाता है। अतः स्पष्ट है कि दो षडरों (उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी) में विभक्त द्वादशार कालचक्र का जो सम्बन्ध दो कुलकर-सप्तकों से है वही दो मनु-सप्तकों या मन्वन्तर सप्तक

(१) देखिये काललोक प्रकाश: ५६२—६४८ पृष्ठ।

में भी है। सौभाग्यवश वैदिक परंपरा में भी द्वादशार ऋत चक्र की कल्पना मिलती है, जिसको भी दो पडरों में विभक्त किया गया है[1]। परन्तु विचित्र बात यह है कि वहाँ पर प्रत्येक पडर का सम्बन्ध सात मनुओं या कुलकरों से न होकर एक 'सप्तचक्र' से है, जिसमें पडर 'अर्पित' कहा जाता है। इस 'सप्तचक्र' का सम्बन्ध संभवत: उन सात 'साकंजना[2]' से है जिनमें से एक को 'एकज' तथा अन्यों को 'बहुज' माना गया है जो 'विकृतानि' कहे गये हैं। यह 'एकज' सांख्य का अहंकार है जो केवल एक मन को जन्म देता है और शेष छः के अन्तर्गत मन तथा दो इन्द्रिय पचक है, जो अपने को एक से अधिक रूपों में व्यक्त करते हैं। अत: प्रत्येक इन्द्रिय-पंचक के साथ मन और अहंकार को मिलाकर संभवतः 'सप्तचक्र' की कल्पना की गई, जिसमें सेन्द्रिय-पञ्चक मन का 'पडर' अर्पित रह सकता है। यदि यह ठीक है तो समष्टिगत द्वादशार' कालचक्र के साथ ही व्यष्टिगत द्वादशार चक्र की कल्पना भी रही प्रतीत होती है; इन दोनों कल्पनाओं को एक ही 'चक्र' की कल्पना के अन्तगत रख देना बिल्कुल स्वाभाविक ही था। इसलिये जहाँ १४ गुणस्थान आदि व्यष्टि की ओर संकेत करते हैं वहाँ १४ राजलोक समष्टि की ओर भी संकेत करते हैं; १८ कुलकरों और मन्वन्तरों में सम्भवत: मानव-समाज की समष्टि को ध्यान में रखा गया है, जिसमें व्यष्टि और समष्टि दोनों ही रहती हैं।

---

(१) देखिये ऋ० वे० १, १६४, ११—१२।
(२) देखिये वही, १६४, १५।

(५) विकास-सिद्धान्त

ऊपर के विवेचन से विकास के चार सिद्धान्तों पर प्रकाश पड़ा है, जिनको क्रमशः (१) लोक-सिद्धान्त, (२) युग-सिद्धान्त (३) शक्ति-सिद्धान्त, और मन्वन्तर-सिद्धान्त कह सकते हैं। जो इनका वर्णन संक्षेप में किया गया है उससे यह भ्रम हो सकता है कि इन चारों में विकास की एक ही कल्पना है, परन्तु, कई बातों में समानता होते हुये भी इन चारों की विकास-कल्पना भिन्न है। लोक-सिद्धान्त के अनुसार विकास का अर्थ है अव्यक्त से व्यक्त सूक्ष्म से स्थूल तथा एकता से अनेकता की ओर प्रगति, जिसमें दो परस्पर-विरोधी तत्त्वों धन और ऋण का संघर्ष प्रथम एक का और फिर दूसरे का प्राबल्य प्रकट करता है; इसके परिणाम-स्वरूप ऋण-तत्त्व इतना प्रबल हो जाता है कि वह धन-तत्त्व को पूर्णतया नष्ट करने का साहस करने लगता है। दूसरे शब्दों में, विकास एक निश्चित मर्यादा के भीतर 'आरोहण' की क्रिया है। परन्तु उस मर्यादा का अतिक्रमण होते ही वह 'अतिरोहण' और फिर 'अवरोहण' में बदल जाती है। युग-सिद्धान्त इसके विपरीत 'अवरोहण' का ही ध्यान रखता है; इसके अनुसार कृत से लेकर कलि तक धर्म का क्रमिक ह्रास होता है, जिसका परिणाम होता है अधर्म का विकास और फलतः प्रलय। शक्ति-सिद्धान्त के अनुसार विकास का ह्रास, आरोहण या अवरोहण आदि सभी

परिवर्तनों का कारण है शक्ति, जो समाजशास्त्रीय दृष्टि व्यष्टि में नारी और समष्टि में नारायणी कही जा सकती है और जो साधारणतया इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया के रूप में काम कर रही है।

मन्वन्तर-सिद्धान्त के अनुसार 'सद्धर्म' के दो पक्ष देवत्व और असुरत्व, धर्म और अधर्म हैं जो परस्पर संघर्ष करते हैं, परन्तु इसकी विशेषता यह है कि जो नीचे है वह ऊपर आसकता है और जो ऊपर है वह नीचे भी आसकता है—दूसरे शब्दों में, देव में भी असुरत्व उभर कर उसे देव से असुर बना सकता है और असुर में भी देवत्व उभर कर उसे देव बना सकता है। इसीलिये पुराण में देवराज के पतित होने, शापित होने तथा नीचे की योनियों में जन्म लेने तक की कथायें मिलती हैं; और इसके विपरीत, असुरराज बलि प्रह्लाद आदि द्वारा का देवराज पद पाने आदि के भी उदाहरण मिलते हैं। हिरण्याक्ष के पुत्र प्रह्लाद, रावण के भाई विभीषण और कंस की बहिन देवकी इस बात के प्रबल प्रमाण हैं कि असुरत्व में भी देवत्व रहता है जो उचित परिस्थितियों में विकसित होकर देवत्व में परिवर्तित हो सकता है। नहुष के उत्थान और पतन में भी देवत्व या असुरत्व के उत्कर्ष और अपकर्ष की कथा है। महाभारत में और ऐसे ही अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं जिनसे स्पष्ट है कि देवत्व या असुरत्व कहीं भी आत्यंतिक और शाश्वत रूप में नहीं रहते।

महाभारत की एक कथा में इसी बात का निरूपण करते हुये उक्त उलट-फेर का कारण भी बताया है। वह कथा इस

प्रकार है—एक बार दानवों के राजा प्रह्लाद ने अपने शील के बल से, देवराज इन्द्र का राज्य छीनकर, तीनों लोकों को अपने अधीन कर लिया। राज्य छिन जाने पर इन्द्र ने बृहस्पति से ऐश्वर्य-प्राप्ति का उपाय पूछा; बृहस्पति ने शुक्र के पास और शुक्र ने उसको प्रहलाद के पास उस उपाय को जानने के लिये भेजा। इन्द्र ब्राह्मण का वेश बनाकर प्रह्लाद का शिष्य हुआ और उसने बहुत दिनों तक उसकी सेवा-सुश्रुषा की। अंत में प्रह्लाद ने बताया कि उसके ऐश्वर्य का कारण उसका शील है। शीलका उपदेश करने के बाद ब्राह्मणरूप इन्द्र से प्रहलाद ने कहा—'मैं तुम्हारी सेवा से अत्यत प्रसन्न हूँ, तुम अपनी इच्छानुसार वर माँग लो'। इस पर इन्द्र ने उसका शील माँगा। बचनबद्ध होने से यह वर देना पड़ा। ब्राह्मण (इन्द्र) प्रसन्न होकर चला गया। उसके जाते ही प्रहलाद के शरीर से छाया के समान एक तेज निकल पड़ा। प्रह्लाद के पूछने पर उसने कहा—"मैं शील हूं। आपने मुझे त्याग दिया है, इसलिये जाता हूं। अब मैं उस ब्राह्मण के शरीर में निवास करूँगा जिसने आपका शिष्यत्व स्वीकार करके लगातार आपकी सेवा की थी। इसके पश्चात् प्रहलाद के देह से एक और तेज निकला उसने कहा, "मैं धर्म हूं; जहाँ शील रहता है वहीं मैं भी रहता हूँ। शील उस ब्राह्मण के पास गया है, इसलिये मैं भी वहीं जाता हूं। धर्म के जाने पर एक और तेज निकला, जिसने पूछने पर कहा, "मैं सत्य हूं, तुमको छोड़कर धर्म के साथ जाता हूँ।" सत्य के पश्चात् प्रह्लाद के शरीर से एक पुरुष निकला, जिसने कहा, "मैं सदाचार हूं,

जहां सदाचार रहता है वहीं मैं भी रहता हूँ।" तब एक और तेज निकला; वह बोला, "मैं बल हूं। सदाचार जहां रहता है, वहीं मैं भी रहता हूं।" उसके चले जाने पर एक प्रभामयी देवी निकली जो लक्ष्मी थी। उसने कहा, "मैं लक्ष्मी हूँ, तुमने अपने शील के द्वारा तीनों लोकों पर अधिकार किया था। यह जानकर इन्द्र ने तुम्हारा शील छीन लिया। धर्म, सत्य, सदाचार, बल और मैं, ये सब शील के अधीन हैं।"

इस कथा से स्पष्ट है कि शील ही धर्म, सत्य, सदाचार, बल और लक्ष्मी का मूल है। अतः एक मात्र विकास का स्रोत यही शील है। अतः समाज को सर्वदा विकास-पथ पर स्थिर रखने के लिये 'शील' को बनाए रखना आवश्यक है। शील-सिद्धांत निराश व्यक्ति को आशा देता है और शीलाभाव से विघटित होते समाज के लिये एक सुघटन का मार्ग प्रदान करता है। यह शील वस्तुतः व्यक्ति या समाज के सम्पूर्ण 'कार्य-कलाप' से ही सम्बन्ध रखता है, वह नर और नारायण की शक्तियों की समूची अभिव्यक्ति की आत्मा है। यही वह विराट् शक्ति है जो मानव-जीवन के सारी गतिविधि को नियंत्रित करती है। यह शक्ति सामाजिक कार्य-कलाप में किस प्रकार व्यक्त होती है इस बात को देखने के लिये हमें कुछ अन्य विकास-सिद्धांतों का अध्ययन करना आवश्यक है।

उत्क्रमण–निक्रमण

सर्व प्रथम 'उत्क्रमण निक्रमण' सिद्धान्त को लेते हैं। इसका वर्णन अथर्ववेद में 'विराज्' की सृष्टि के प्रसंग में आया

है। उस वर्णन के अन्य अंगों को छोड़ कर हम केवल उसके सामाजिक पक्ष को ही लेते हैं। वह वर्णन इस प्रकार है।

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्याः जातायाः सर्वमबिभे-
दियमेवेदं भविष्यतीति।
सोदक्रामद् स. गार्हपत्ये न्यक्रामत्।
गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद।
सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत्।
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद।
सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्।
यज्ञर्तो दक्षिणीयो वास्तेयो भवति य एवं वेद।
सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत्।
यन्त्यस्य सभांसभ्यो भवति य एवं वेद।
सोदक्रामत सा समितौ न्यक्रामत्।
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद।
सोदक्रामण सामन्त्रणे न्यक्रामत्।
यन्त्यस्यामन्त्रणमान्त्रणीयो भवतिय एवं वेद।

"यह सब पहिले विराज रूप में ही था। उसके (विराज) के उत्पन्न होते ही सबको भय हुआ कि यह ही यह सब (नामरूप जगत्) हो जायगा"।

"उसने (विराज) ने उत्क्रमण किया ; उसने गार्हपत्य में 'निक्रमण' किया। जो यह जानता है वह गृहमेधी गृहपति होता है"।

"उसने (विराज) ने उत्क्रमण; किया आहवनीय में निक्रमण किया। जो यह जानता है उसकी देवहूति (देवाह्वान) में देव जाते हैं और वह देवों का प्रिय होता है"।

"उसने उत्क्रमण किया। उसने दक्षिणाग्नि में निक्रमण किया। जो यह जानता है वह दक्षिणीय और वासतेय होता है"।

'उसने उत्क्रमण किया; उसने सभा में निक्रमण किया। जो इस प्रकार जानता है उसकी सभा में लोग जाते हैं और वह सभ्य होता है"।

"उसने उत्क्रमण किया; उसने सभा में निक्रमण किया। इसकी समिति में लोग जाते हैं और वह सामित्य होता है, जो इस प्रकार जानता है"।

"उसने उत्क्रमण किया; उसने आमन्त्रण में निक्रमण किया। जो इस प्रकार जानता है उसके आमन्त्रण में लोग आते हैं और वह आमन्त्रणीय होता है।"

इस वर्णन से निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है:—

(१) विराज उत्क्रमण करती है तो उसे कहीं 'निक्रमण' भी करना पड़ता है।

(२) उसके तीन उत्क्रमणों के साथ तीन निक्रमण क्रमशः गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि में होते हैं, जिनका सम्बन्ध कुटुम्ब से है।

(३) उसके अन्य तीन उत्क्रमणों, के साथ तीन निक्रमण क्रमशः सभा, समिति और आमन्त्रण में होते हैं, जिनका सम्बन्ध समाज से है।

इस वर्णन का अभिप्राय समझने के लिये हमें गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि के साथ साथ ही सभा, समिति और आमन्त्रण के स्वरूप को समझना आवश्यक है साधारण-तया गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि तीन श्रौत अग्नि है जो प्रत्येक गृहस्थ अपने घर में रखता था। परन्तु, प्रश्न यह है कि ये तीनों किसके प्रतीक हैं? यदि इनको प्रतीक रूप में न ग्रहण किया जाय तो, यहाँ की भाँति, अन्य कई स्थलों पर इनका कोई अर्थ नहीं बैठता। सभा और समिति के स्वरूप पर स्वर्गीय जायसवाल ने प्रकाश डाला है; परन्तु इन दोनों के साथ आमन्त्रण शब्द एक और कठिनाई उपस्थित करता है। अतः यहाँ संक्षेप में इनका विवेचन पुनः कर लेना आवश्यक है; तभी प्रथम त्रिक और दूसरे त्रिक का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि मूलतः इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान शक्ति के प्रतीक प्रतीत होते हैं इसीलिये उनकी उत्पत्ति क्रमशः साम, ऋक्, और यजु (ष० ४, १) से बतलाई गई है। इच्छाशक्ति का 'शम' क्रिया शक्ति का कर्म तथा ज्ञानशक्ति का 'दक्ष' (योग्यता या सामर्थ्य) लक्ष्य है। अतः आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि को क्रमशः 'शर्म', कर्म तथा दक्ष

तै० उ० ४, २६, १५; तु० क० श० ब्रा० ८. २, १, ६, ८, १, ४, १; ऐ०ब्रा० १, १३; ऋ० ८, ४२ ३) कहा गया है। इसलिये आहवनीय का संबन्ध. द्यु या स्वर्ग से है। श० ८, ६, ३, १४; २. ३, ४, ३६: १, ७. ३. २२; ऐ० ब्रा० ५, २४, २६; प० १, ५; तै० ब्रा० १, ६. ३, ६) और उसे देवयोनि (श० १२, ६, ३, १०) कहा गया है; गार्हपत्य का सम्बन्ध पृथ्वी (श० ब्रा० १, ७, ३, २२; ७, १. १, ६; ८, ६. ३, १४; प० १, ५ श० ब्रा० २, ३, ४, ३६) तथा अन्न से है (अन्नं वै गार्हपत्यः, श० ब्रा० ८, ६. ३, ५) और दक्षिणाग्नि सम्भवतः दोनों में बीच की वस्तु मानी जाती है। यों तो तीनों का घनिष्ट संबन्ध है, परन्तु गार्हपत्य मुख्य है, क्योंकि उसी से आहवनीय की उत्पत्ति होती है (श० ब्रा० १, ७, ३, २२)—कर्म पर ही 'शम' अवलंबित है।

इन तीन अग्नियों में (जिनको प्रायः त्रेता भी कहा जाता जाता है,) गार्हपत्य प्रमुख है, क्योंकि कुटुम्ब में 'कर्म' ही सब कुछ है—उसी पर गृह की ज्ञान-शक्ति तथा इच्छाशक्ति जीवित रह सकती है। इसी महत्त्व को देखकर गार्हपत्य को ही गृह (श० १, १, १, १६; १, ६, ३, १८; २, ४, १, ७; ४, ६, ६, २) माना गया है। गृह के सारे क्रम (या क्रिया-शक्ति) का केन्द्र गृहिणी के हाथ में था, अतः गृहिणी को ही गार्हपत्य (जाया गार्हपत्यः, ऐ० ब्रा० ८, २४,) माना गया है; गृह और गृहिणी के इसी महत्त्व को ध्यान में रखकर 'भार्या वै गृहम्' कहा जाता है, और गृहाग्नि के हवन में भार्या की उपस्थिति अनिवार्य्य

मानी जाती है[1]। इसी तथ्य को स्वीकर करते हुये, उक्त अथर्ववेदीय उद्धरण में विराज का सर्व प्रथम 'निक्रमण' (केन्द्रीकरण) गार्हपत्य में ही माना गया है। गृहिणी में कुटुम्ब की सारी क्रियाशक्ति को केन्द्रित करके वैदिक समाज-शास्त्र ने एक वास्तविक सत्य को ही माना है, क्योंकि ध्यान से देखा जाय, तो गृहिणी के विना न तो समाज की इकाई परिवार का ही अस्तित्व हो सकता है और न समाज की वृद्धि एव पुष्टि के लिये उपर्युक्त वातावरण ही उपस्थित किया जा सकता है। इसीलिये कहा गया है कि जो गार्हपत्य (गृहिणी) में केन्द्रीभूत इस शक्ति को जानता है वह ही गृहमेधी होता[2] है, पुष्टिकर्म के रहस्य को जानने वाला होता है[3]। गृहिणी में कुटुम्ब की जिस क्रियाशक्ति को केन्द्रीभूत माना गया है उसका साफल्य उस शम, दम आदि रूपिणी इच्छा शक्ति के विना सभव नहीं जिसका प्रतीक ऊपर आहवनीय को बताया गया है। इसलिये आहवनीय को 'प्राण' को माना गया है (श० ब्रा० २, २, २, १८) हम ऊपर देख ही चुके हैं कि उक्त इच्छा शक्ति के विना कर्म को यज्ञत्व या देवत्व नहीं मिल सकता; इसीलिये आहवनीय को 'यज्ञ', 'देवयोनि' तथा इन्द्र (श० ब्रा० १, ७, ३, २६; १२, ६, ३, १०; २, ६, १, ३८) भी कहा जाता है और उक्त

---

(१) स्मृत्यर्थसार, पृ० ३४; आप० ध० सू० २, ६, १५—१६; आश्व० गृ० १, ६, १—२, History of Dharmashastra pp. 683—684.

(२) कौ० ब्रा० ५, ५; गो० ब्रा० १, २३।

(३) ऊ० उ०।

अथर्ववेदीय उद्धरण में कहा गया है कि जो उसको जानता है वह देवों का प्रिय होता है। जिस प्रकार कुटुम्बियों में गृहिणी को गार्हपत्य का प्रतीक माना गया है उसी प्रकार 'पुरोहित' को एक आहवनीय का प्रतीक माना गया है[1], क्योंकि वैदिक समाज में कौटुम्बिक कर्म का निर्देशन तथा नियंत्रण करने वाला पुरोहित ही था। इसलिये गार्हपत्य, आहवनीय तथा दक्षिणाग्नि को माता, पिता तथा पुत्र अथवा गुरु, माता, पिता कहा गया है।

ऊपर दो अग्नियों के स्वरूप को देखने से प्रतीत होता है कि वे दोनों कुटुम्ब को क्रमशः आध्यात्मिक (शम) दम आदि) तथा भौतिक (अन्न आदि) सामग्री जुटाते थे जिनसे युक्त होकर कुटुम्ब उस 'दक्ष' (सामर्थ्य) को प्राप्त करता था जिससे वह सामाजिक श्रम-यज्ञ के छिद्रों और विघ्नों को दूर कर उसे सम्पन्न करने में पूर्ण योग देसके। प्रथम दो अग्नि जिन शक्तियों के प्रतीक हैं उनका लक्ष्य केवल यही है कि वे कुटुम्ब को 'यजमान' (सामाजिक यज्ञ करने की क्षमता वाला) बना दें, जबकि तीसरे का लक्ष्य होता है उक्त यज्ञ को निर्बाध रूप से संपादित कराना। अतः पहले दोनों अग्नियों को यजमानदेवत्य कहा जाता है जबकि दूसरे को भ्रातृदेवत्य (श० २, ३, २, ६, त० ब्रा० २, ३, ७, २; १, ६, ५, ५) कहा जाता है और उसके रहस्य को जानने वाला यज्ञर्त (यज्ञ करने वाला), दक्षिणीय (दाक्षिण्ययुक्त)

---

(१) तस्य पुरोहित एव आहवनीयो भवति ऐ० ब्रा० ८, २४।

तथा वास्तेय (समाज में वास करने योग्य) समझा जाता है [1]। ऐसा व्यक्ति ही समाज की विभिन्न समितियों और सभाओं के उपयुक्त हो सकता था; वही नागरिकता के अधिकारों और कर्तव्यों का पात्र समझा जाता था। अतः विराज शक्ति के व्यक्ति में विकसित होकर ही समाज में उसके विकसित होने की बात की गई है।

कुटुम्ब की भाँति समाज में भी शक्ति का केन्द्रीकरण तीन स्थानों पर माना जाता था—(१) सभा, (२) समिति तथा (३) आमन्त्रण। स्वर्गीय काशीप्रसाद जायशवाल के अनुसार 'समिति' जन-साधारण अथवा विशः की राष्ट्रीय सभा थी[2], जिसके संघठन का मुख्य आधार ग्राम थे[3], और सभा सभवतः चुने हुए लोगों की एक स्थायी संस्था थी जो समिति के अधीन रहकर काम करती थी[3]। सभा का दूसरा नाम नरिष्टा (नृ + इष्टा) यह प्रकट करता है कि वह 'नरों की इष्टा' अथवा निर्वाचित संस्था थी; इसका चुनाव पुरुष वयस्क मताधिकार पर आश्रित प्रतीत होता है, क्योंकि 'प्रथमवय के युवा' को 'सभेय' कहा जाता था[4]। इसके विपरीत 'समिति' के सदस्य

---

(१) हिन्दू राज्यतंत्र, पृ० १२।

(२) वही, पृ० २०।

(३) वही पृ० २४।

(४) एष वै सभेयो युवा यः प्रथमवयसी श० १, ३, १, ६, ८।
यो वै पूर्ववयसी सभेया युवा। त० ब्रा० ३, ८, १३, ३।

संभवतः अनुभवी वृद्ध ही होते थे, जिन्हें 'पितर' कहा जाता था,[1] सभा और समिति दोनों का अध्यक्ष 'प्रजापति' कहलाता था जिसकी ये दो पुत्रियाँ कहलाती थीं[2]। प्रजापति को ही संभवतः 'सभापति' भी कहते थे[3]। इन दोनो के संयुक्त अधिवेशन से प्रजापति एक छोटी 'संसद' छाँटता था जो उन सबका 'वर्चस्' 'विज्ञान' स्वरूप समझी जाती थी[4]; इस 'संसद' के प्रत्येक व्यक्ति से आशा की जाती थी कि वह अपने मन को सर्वत्र से हटाकर 'प्रजापति' या अध्यक्ष में लगाये। यही संसद संभवतः 'आमन्त्रण' नाम की संस्था थी, जिसका उल्लेख ऊपर अथर्ववेदीय उद्धरण में हुआ है। अतः सभा, समिति तथा आमन्त्रण को संभवतः समाज की क्रमशः क्रिया, इच्छा, और ज्ञान शक्तियों का प्रतीक समझा जाता था और इनके द्वारा ही जो शासन-प्रणाली चलती थी उसी को 'वैराज्य' कहा जाता था। विराज' से इनका विकास बतलाने का संभवतः यही प्रयोजन है। 'वैराज्य' के स्वरूप पर हिन्दुराज्यतंत्र में निम्न लिखित विवेचन किया गया है :—

"इसका ठीक ठीक शब्दार्थ होता है— "बिना राजा की अथवा राजा-रहित शासन-प्रणाली"। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार

---

(१) अथ० वे० ७, १२, १।

(२) वही।

(३) वा० १६, २४।

(४) अथ० वे० ७, १२, ३।

सारा देश या जाति (जनपद) राजपद के लिए अभिषिक्त होता था। इस बात में किसी प्रकार का संदेह नहीं हो सकता कि यह शासन-प्रणाली वास्तव में प्रजातंत्री थी। ऐतरेय ब्राह्मण में उदाहरण के रूप में कहा गया है कि उत्तर मद्रों और उत्तर कुरुओं में यह शासन-प्रणाली प्रचलित थी। व्याकरण में मद्रों का उल्लेख दिशा के विचार से हुआ है, जिससे सिद्ध होता है कि मद्रों में कम से कम दो विभाग थे। पाणिनि के समय में मद्र लोगों में प्रजातंत्री शासन-प्रणाली प्रचलित थी और उनमें ई० पू० चौथी शताब्दी तक, जब कि गुप्त वंश के लोगों से उनका मुकाबला हुआ था, बराबर प्रचलित रही। जान पड़ता है कि उत्तर मद्रों में जो शासन-प्रणाली प्रचलित थी, वह दक्षिण मद्रों की शासन-प्रणाली से भिन्न प्रकार की थी। इसके परवर्ती साहित्य में उत्तर कुरुओं का जो उल्लेख है, उससे जान पड़ता है कि उस समय उनका अस्तित्व केवल कथा-कहानियों में ही रह गया था। वे लोग पौराणिक कोटि में चले गये थे। और वह अपनी सम्पन्नता तथा सुखपूर्ण जीवन के लिए प्रसिद्ध थे। ऐतरेय ब्राह्मण में उनका उल्लेख मद्रों की भाँति ऐतिहासिक जातियों के रूप में हुआ है। उससे यह जान पड़ता है कि परवर्ती काल में इन लोगों का एक स्वतंत्र जाति के रूप में अस्तित्व नहीं रह गया था, और इस देश में, जहाँ प्रायः इतिहास को जंगलीपन से पुराणों का रूप देदिया जाता है, इस प्रकार की घटना प्रायः हुआ करता है।

हिन्दू टीकाकार वैराज्य शब्द का ठीक ठीक महत्व समझने में असमर्थ रहे हैं और उन्होंने भूल से इसका अर्थ किया है

प्रकाशमान अवस्था। पर यहाँ इस शब्द का शासनप्रणाली संबन्धी जो अर्थ किया गया है, उसके ठीक होने में जरा भी संदेह नहीं किया जा सकता। ऐतरेय के उसी वाक्यांश में जो और शब्द आये हैं, उनका भी इसी प्रकार शासन-प्रणाली सम्बन्धी ही अर्थ होता है। यदि उसके लिए किसी और विशेष प्रमाण की आवश्यकता हो तो हम यही कहेंगे कि पाठक इस सम्बन्ध में कौटिल्य का अर्थशास्त्र देखेंगे, जिसने इस को शासन-प्रणाली का एक प्रकार माना है और जिसे खराब या दूपित समझकर तिरस्कृत और अस्वीकृत कर दिया है। अपने समकालीन यूनानी विचारशीलों की भांति वह भी प्रजातंत्र को घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से देखा करता था। उसका मत है:—

"जहाँ वैराज्य शासन-प्रणाली होती है, वहाँ किसी व्यक्ति के मनमें निजत्व (राज्य के सम्बन्ध) का भाव ही उत्पन्न नहीं होता। वहाँ राजनीतिक संगठन का उद्देश्य ही नष्ट हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति देश को वेच सकता है। कोई अपने आपको उत्तरदायी नहीं समझता और लोग उदासीन होकर राज्य छोड़कर चले जाते हैं।"

जन आचारांग सूत्र में भी जहाँ भिन्न भिन्न प्रकार की शासन-प्रणालियों का उल्लेख है वहाँ वैराज्य का नाम आया है। महाभारत में विराज शब्द शासक की पद सम्बन्धी उपाधियों में से एक बतलाया गया है।

अनुविचलन

वैराज्य-प्रणाली के अनुसार जिस विकास-सिद्धान्त का उल्लेख ऊपर किया गया है, उसके समान ही सा एक सिद्धान्त और भी है जिसे अनुविचचन (अथ० वे० १५) सिद्धान्त कह सकते हैं। इसमें भी उक्त 'त्रेता' अग्नि तथा सभा, समिति आदि के 'अनुविचलन' का वर्णन है। 'अनुविचलन' का अर्थ है 'किसी के अनुगमन में विशेष रूप से चलना' इसमें चलने वाली वह 'चैतन्य शक्ति' है जो मानों किसी न किसी 'व्रत' को लेकर विभिन्न सृष्टियों के रूप में व्यक्त हो रही है। 'व्रत' के सम्बन्ध से ही उसका नाम 'व्रात्य' हुआ प्रतीत होता है। वह किसी न किसी दिशा को लक्ष्य मानकर चल देता है। इस सिद्धान्त में और 'निक्रमण' सिद्धान्त में यह अंतर है कि इस में 'व्रात्य' किसी दिशा में चलता है तो आहवनीय आदि सब उसका अनुगमन करते हुये चलने लगते, हैं जबकि पहले के के अनुसार 'विराज' शक्ति स्वयं ही 'आहवनीय' आदि में केन्द्रीभूत होती है। इस अन्तर का कारण संभवत: यह है कि 'निक्रमण' में शक्ति का स्रोत है समष्टि जब कि 'अनुविचलन' में वह स्रोत व्यष्टि है। अथर्ववेद में इसका वर्णन इस प्रकार आता है :—

स परमां दिशमनुव्यचलत्
तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च
पशवश्चानुव्यचलन्

आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत्

विशां च वै बन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।

स विशोऽनु व्यचलत् ।

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ।

सभायाश्च वै समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ।"

अर्थः—"वह परमा दिशा का अनुसरण करके चल दिया। उसके पीछे पीछे आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशु चल दिये। जो इस प्रकार जानता है, वह आहवनीय, गार्हपत्य दक्षिणाग्नि, यज्ञ, यजमान और पशुओं का प्रिय धाम होता है।

"उसने राजन (प्रकाशन) किया, उससे 'राजन्य' उत्पन्न हुआ। उसने राष्ट्र (विशः), बन्धु-बान्धवों, अन्न तथा अन्नाद्य के प्रति अभ्युत्थान किया; जो इस प्रकार जानता है वह प्रजाओं बन्धु-बान्धवों, अन्न तथा अन्नाद्य का प्रिय धाम होता है।

वह राष्ट्र (विशः) का अनुसरण करके चला; उसके पीछे सभा, समिति, सेना और सुरा चल पड़ें।

जो इस प्रकार जानता है, वह सभा, समिति, सेना और सुरा का प्रिय धाम होता है।"

इस वर्णन में विकास के तीन चित्र मिलते हैं। इनमें से पहले चित्र में बतलाया गया है कि कुटुम्ब की चैतन्य शक्ति जब 'परमा दशा' (ब्रह्म अथवा अन्य किसी उच्च आदर्श) का अनुसरण करती है, तो 'पुरोहित'[1], गृहिणी तथा गृहस्थ में केन्द्रित उसकी इच्छा, क्रिया और ज्ञान या शम, कर्म और दक्ष (जिनके प्रतीक क्रमशः आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि हैं[2]) तथा उनसे क्रमशः प्राप्त होने वाले यज्ञ; यजमान और पशु सब के सब उसी के अनुकूल हो जाते हैं। और इन सबका 'प्रिय धाम' (सुखद केन्द्र) होने का रहस्य यही है कि कुटुम्ब को 'परमा दिशा' दिलाने का काम पुरोहित का है, आहवनीय के केन्द्र-बिन्दु का है[3]; यदि यह ठीक है तो यज्ञ, यजमान, पशु सब ठीक है और यदि वह बिगड़ा तो सब गया।

दूसरे चित्र के अनुसार वह 'व्रात्य' (उक्त चेतन्य शक्ति) 'राजन' का व्रती होकर समाज का राजा बनता है, तो वह सबका आदर करता है—राष्ट्र, बन्धु-बान्धव, अन्न और अन्नाद्य सबका; यही एक उपाय है जिससे कोई इन सबका सुखद केन्द्र बन सकता है।

---

(१) देखिये ऊपर 'निक्रमण'

(२) वही।

(३) वही।

तीसरे चित्र में वह राष्ट्र' (विशः) के अनुसार चलता है, तो सभा, समिति, सेना और सुरा सभी उसका अनुसरण करते हैं, । यहाँ जिस सभा और समिति का उल्लेख है वह वही सभा और समिति हैं जिनका वर्णन ऊपर हो चुका है; परन्तु यहाँ ये 'राजन्य' की अनुवर्ती हैं। सेना निसन्देह वीर-सैनिकों का दल है और सुरा एक परिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है प्रजा''

इसका अभिप्राय है कि 'अनुविचलन' सिद्धान्त के अनुसार एक राजा 'राष्ट्र' का अनुगमन करता है और समस्त सभा, समिति, सेना तथा प्रजा उस राजा का अनुगमन करते हैं; राजा इन सब से परे है और इस अद्वितीय महत्त्व के कारण निम्नलिखित बताये गये हैं :—

(१) वह राष्ट्र (विशः), सबन्धुओं (बन्धु-बान्धव) आदि का आदर करता है।

(२) ऐसा करने से पूर्व ही वह राजन्य है।

(३) वह राजन्य होता है अपने व्यक्तिगत 'राजन' (प्रतिभा, तेज, प्रकाश) के फलस्वरूप।

(४) इस 'राजन' या तेज का कारण है 'परमा दिशा' को लक्ष्य बनाना—दूसरे शब्दों में समाज की व्रात्य (व्रत लेकर चलने वाली चैतन्य शक्ति का उत्कर्ष।

---

(१) श० ब्रा० ८, १, १, १५; गो० ब्रा० १, ७।

इन विशेषताओं को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि यह वही सिद्धान्त है जिसने 'स्वराज्य शासन-प्रणाली' को जन्म दिया। इस प्रणाली के विषय में स्वर्गीय श्री काशीप्रसाद जायसवाल लिखते हैं, "ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है कि पश्चिमी भारत में स्वराज नाम की एक और विलक्षण शासन प्रणाली प्रचलित थी। इस शासन-प्रणाली में जो शासक या सभापति होता था, वह स्वराट् कहलाता था। इसका शब्दार्थ है— स्वयं शासन करने वाला। तैत्तरीय ब्राह्मण में वाजपेय यज्ञ की प्रशंसा में लिखा है कि जो बुद्धिमान विद्वान् वाजपेय यज्ञ के द्वारा बलि-प्रदान करता है, वह स्वराज्य प्राप्त करता है; और इस स्वराज्य शब्द की व्याख्या में लिखा है— अपने समान लोगों का नेता बनना। वह बड़प्पन या 'ज्यैष्ठ्य' प्राप्त करता हैं। इस छोटी सी सूचना से यह पता चलता है कि समान लोगों में से ही कोई स्वराट् शासक चुना जाता था जो सभापति या प्रधान शासक बनाया जाता था; और वह चुनाव व्यक्ति के इन्द्र होने की योग्यता पर निर्भर करता था. क्योंकि यह कहा गया है कि इन्द्र ने ही पहले पहल अपनी योग्यता प्रमाणित करके अपना स्वराज्य अभिषेक कराया था। जान पड़ता है कि यह उल्लेख गण या काउन्सिल के सभापति के निर्वाचन या चुनाव के ही संबन्ध में है। यहाँ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि महाभारत में कहा गया है कि गण के सब सदस्य समान समझे जाते थे (सदृशासर्वे)।"

समाजशास्त्रीय दृष्टि से यहाँ अवधातव्य यह है कि इस प्रणाली के अन्तर्गत व्यक्तिगत विशेषता तथा योग्यता को प्रमुख

[illegible] मिलता था; इसी प्रणाली को लक्ष्य में रख कर सम्भवतः [illegible] के सूत्रों में 'स्वराज्य का मूल चरित्र' माना गया है[1]। इसी बात को अथर्ववेदीय 'अनुविचलन' सिद्धान्त के अनुसार 'राजन्य' की उत्पत्ति में दुहराया गया है। परन्तु इस प्रकार के [illegible] चरित्र का निर्माण तभी हो सकता है जब सामाजिक चेतना 'व्रात्य' हो जाय अर्थात् एक उच्च लक्ष्य की पूर्ति का व्रत लेकर उठ खड़ी हो—इस रहस्य का उद्घाटन उक्त वैदिक उद्धरण में ही मिलेगा।

समाज-व्रत

परन्तु, 'अनुविचलन' सिद्धान्त से यह तो स्पष्ट ही है कि समाज में कोई ऐसी चैतन्य-शक्ति मानी जाती थी जो 'राजन्य' आदि के रूप में प्रकट होती थी। और 'व्रत' से संबन्ध होने से उसे व्रात्य कहा जा सकता था; 'निक्रमण' सिद्धान्त के अनुसार इसी शक्ति को 'विराज्' कहा गया है, जो, जैसा कि हम देख चुके हैं, अपने राम, कर्म तथा दत्त अथवा इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान के त्रिविध रूप में भी व्यक्त होता हुआ माना जाता था। इस शक्ति को हम 'समाज की आत्मा' कह सकते हैं— समाज की आत्मा जो व्यक्ति से भिन्न अपनी निज की इच्छा, क्रिया और ज्ञान शक्तियाँ रखता है। आज भी 'भीड़ मनोवृत्ति' (Mob Psychology), 'सामाजिक मनोवृत्ति' तथा वर्ग 'मनोवृत्ति' (Group Psychology) आदि मनोविज्ञान के कई शब्द हैं

---

(१) स्वाराज्यस्य मूल्यं चारित्रम्।

जो व्यक्ति से भिन्न किसी अन्य व्यापक मन की ओर संकेत करते हैं। इसी तथ्य को ध्यान में रख कर संभवतः आर. यस. मैकाइवर ने अपनी पुस्तक (Elements of Social Science) में कहा है—"समाज हमारी परिस्थितियों तक ही सीमित नहीं है: वह हमारी प्रकृति है वह हमारे भीतर भी है और बाहर भी" (पृष्ठ १) यदि राज्य के स्थूल रूप में देखा जाय, तो समाज एक ऐसी सत्ता है जो व्यक्ति से परे है; एक युग-व्यापी आध्यात्मिक जीवन है प्रत्येक व्यक्ति जिसका एक लघुकण मात्र है; एक ऐसा भीमकाय 'यज्ञ' है जिससे विभिन्न व्यक्ति अपने-अपने अध्यवसाय और अन्तःकरण सहित सारे आध्यात्मिक एवं मानसिक आहार को ग्रहण करते हैं। इस विषय में, उक्त वैदिक मत की हेगेलवाद पर आश्रित आधुनिक विचारधारा से तुलना कर सकते हैं। हेगेल मानता कि है ' राज्य स्वयं भूतलगामी परमेश्वर है ' और एकमात्र शक्ति जो उससे बड़ी है वह है ' विश्वात्मा । '

उक्त वैदिक मत से सादृश्य रखने वाले हेगेल के विचारों ने आधुनिक विचारधारा को इतना प्रभावित किया है कि यह कहना अनुचित न होगा कि आज के सभी समाजशास्त्रीय मतों पर हेगेलवाद का रंग चढ़ा हुआ है। हेगेलवाद ने टी. यच. ग्रीन, एफ. एच. ब्रेडले, बोसांक्वे, हेनरी जोन्स, लोर्ड हाल्डेन आदि प्रमुख विद्वानों को प्रेरणा दी ही है, उसी से उन परस्पर-विरोधी धाराओं को भी स्फूर्ति मिली है जिन्हें कम्यूनिज्म और फासिज्म कहा गया है। विचित्र बात यह है कि हेगेलवाद की भाँति उक्त

वैदिक मत भी आगे चलकर दो परस्पर-विरोधी राजनीतिक प्रवृत्तियों में विकसित होता दिखाई पड़ता है— एक तो वैदिक राजन्य की अनुवर्तिनी सभा समिति आदि से प्रारम्भ करके मनुस्मृति के उस राजा के रूप में प्रकट होती है, जिसको "महती देवता"[1] कहकर निरंकुशता की प्रतिमूर्ति[2] बना दिया जाता है; और दूसरी 'वैराज्य' सभा, समिति और आमन्त्रण से आरम्भ होकर अनेक प्रजातन्त्रीय परंपराओं में प्रकट होती हुई आज भी जातीय पंचायतों के रूप में विद्यमान है।

परन्तु, हेगेलवाद और वैदिकमत की तुलना बहुत दूर तक नहीं जा सकती। उन दोनों का सादृश्य केवल इसी में है कि दोनों ही ने व्यष्टि के विपरीत समष्टि के दृष्टिकोण से विचार किया है: अन्यथा दोनों में आकाश-पाताल का अंतर है। हेगेलवाद अपने क्रियात्मक रूप (फासिज्म) की भांति ही राज्य को एक अलौकिकता प्रदान करता है और उसके अनुसार व्यक्ति केवल समाज के लिये ही जीता है। इसलिये फासिज्म के प्रभाव से राज्यों ने अपने नागरिकों को वही सिखाया जो वे सिखाना चाहते थे, न कि वह जो सत्य और उपयोगी था। रूस में भी, जहां कि उसी हेगेलवाद का आधार है, व्यक्ति-

---

(१) बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

(२) यस्य प्रसादे पद्माऽऽस्ते विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजमयो नृपः॥

स्वातन्त्र्य का अभाव है, यहाँ तक कि कुछ लोगों के अनुसार वहाँ व्यक्तिगत जीवन को सामाजिक जीवन में ऐसा मिला दिया जाने वाला है कि वहाँ ऐसी कोई कला या अभिव्यक्ति न रह सकेगी जो शुद्ध रूप से सामाजिक और साम्यवादी न हो। इन दोनों अवस्थाओं में, राज्य व्यक्ति-स्वातंत्र्य को सहन नहीं कर सकता और मनुष्य को पालन-पोषण की मशीन बना दिया जाता है। इसके विपरीत वैदिक विचारधारा में पर्याप्त उदारता है। उसके अनुसार यह आवश्यक नहीं कि "राज्य सामाजिक-चेतना की प्रतिमूर्ति और प्रतिनिधि हो और राज्य के कार्य समाज के व्यक्तियों के ही कार्य हों।" इसके विपरीत वैदिक—वैराज्य अथवा स्वाराज्य में व्यक्ति को पूर्ण स्वतंत्रता है; उसमें आधुनिक हीगेलवादी राज्यों की भाँति बलात्कार या 'कानून' का बोलबाला नहीं है। उसके अनुसार, जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, राजन्य भी अपनी सर्व प्रभुत्व-सम्पन्न-सत्ता प्रजा-राष्ट्र से ग्रहण करता है और राज्य के विभिन्न अंग (सभा, समिति, सेना और सुरा), विशः या प्रजा के सामूहिक व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति मात्र हैं।

पुरुषवाद

जैसा कि ऊपर देख चुके हैं, वैदिक विचारधारा के अनुसार समाज में एक सामूहिक चेतन्य सत्ता की कल्पना की गई है। यही कल्पना हमें पुरुषवाद में भी मिल सकती है। प्रसिद्ध पुरुष-सूक्त में सर्वव्यापक, सहस्राक्ष, सहस्रपाद, सर्वशक्तिमान् पुरुष से सम्पूर्ण जगत की सृष्टि का वर्णन करते हुये, समाज के प्रमुख तत्त्वों की भी सृष्टि बतलाई गई है :—

ब्राह्मणोऽस्यमुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत॥

यहाँ जिन ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य और शूद्र का उल्लेख किया गया है वे उन्हीं सामाजिक श्रम-तत्त्वों के प्रतिनिधि हैं जिनको ऊपर (पृ० ७५–८४) क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, विश तथा शूद्र कहा गया है। सारे समाज के व्यक्तियों की समष्टि ही एक पुर है, जिसमें निवास करने से ही उक्त समाज 'ब्रह्म-पुरुष' कहलाता है। समाज के सारे श्रम या व्यवहार में इसी पुरुष के श्रम या व्यवहार की ही तो अभिव्यक्ति हो रही है— समाज की जो प्रागन क्रियायें चक्षु श्रोत्र, जिह्वा, मस्तिष्क आदि मुख-स्थानीय अंगों से होती हैं वे वस्तुतः इसी पुरुष की मुखस्थानीय क्रियायें हैं; समाज की जो संरक्षणात्मक क्रियायें शरीर की बाहुओं की भाँति सेवा आदि द्वारा होती हैं वे इसी पुरुष की बाहुस्थानीय क्रियायें समझी जा सकती हैं; इसी प्रकार समाज की संग्रहण तथा वितरण की क्रियायें भी इसी पुरुष की संग्रहणात्मक और वितरणात्मक क्रियायें हैं जिनका समाज के लिये वही महत्त्व है जो शरीर के लिये ऊरू और पाद का—इन दोनों पर जिस प्रकार शरीर का सारा ढाँचा स्थित और गतिशील होता है, उसी प्रकार समाज की भी सारी क्रियाओं का प्रसाद इन्हीं दो स्तंभों वैश्य और शूद्र (संग्रहण एवं वितरण) पर ही टिका हुआ है।

इसी पुरुष को ब्रह्म नाम देकर अन्यत्र भी क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, विश तथा शूद्र तत्त्वों की उत्पत्ति इसी से बतलाई

गई है— वह भी न केवल मानव समाज में, अपितु देव समाज में भी :—

ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्नव्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं। यान्येतानि देवता क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति। तस्मात् क्षत्रात्परं नाऽस्ति।........स नैव व्यभवत स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणशः आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत स शौद्रं वर्णमसृजत पूषमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्येति यदिदं किं च।

तदेतद्ब्रह्म क्षत्रं बिट् शूद्रस्तदग्निनैव देवेषु ब्रह्माऽभवत् ब्राह्मणो मनुष्येषु क्षत्रियेण क्षत्रियो वैश्येन वैश्यः शूद्रेण शूद्रः एताभ्याँ हि रूपाभ्याँ ब्रह्माभवत्।

(बृ० उ० १, ४, ११-१५)

अर्थात्—यह सब (नाम-रूप जगत्) ब्रह्म रूप में ही पहले था। वह अकेला होने से विशेष रूप से नहीं हो सका। उसने अपने श्रेष्ठ रूप का उत्सृजन किया। जो ये क्षत्र रूप देवता हैं, वे यही इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम मृत्यु और ईशान हैं। इस क्षत्र से बड़ा और नहीं है।..........परन्तु (यह 'क्षत्र' उत्पन्न करने पर भी) वह विशेषरूप नहीं हुआ। उसने 'विश्' का अपने में से उत्सृजन। जो ये देवता गण रूप में बोले जाते हैं—वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत—वे यही हैं। (परन्तु

[illegible]) वह विशेष रूप फिर भी न हुआ। तब उसने अपने शौद्र वर्ण का उत्सृजन किया—यह पूषण देवता था। पूषण यही (पृथ्वी) है क्योंकि यहां जो कुछ है उसका पोषण पृथिवी ही तो करती है।

वह ब्रह्म, तत्त्व-चतुष्टय (ब्रह्म, क्षत्र, विश और शूद्र) के रूप में देवों में अग्नि के द्वारा ही हुआ, (उसी प्रकार वह ब्रह्म) मनुष्यों में ब्राह्मण, क्षत्रिय के द्वारा क्षत्रिय, वैश्य के द्वारा वैश्य तथा शूद्र के द्वारा शूद्र हुआ।..........इन्हीं दोनों रूपों के द्वारा ब्रह्म (विशेष या विविध रूप में) हुआ।

उपनिषद् की अटपटी बानी में, जैसा कि इस उद्धरण के अन्तिम वाक्य से स्पष्ट है, यही बतलाया गया है कि समाज में (चाहे वह देव समाज हो, या मानव समाज) ब्रह्म है और वह तत्त्व-चतुष्टय के रूप में अपने को अभिव्यक्त करता है, देवताओं में अग्नि के द्वारा और मनुष्यों (आर्यों या किसी अन्य जाति-विशेष में नहीं) में ब्राह्मण के द्वारा। यही अभिप्राय पुरुष, व्रात्य, विराज अथवा किसी अन्य से होने वाली सामाजिक सृष्टि का भी समझना चाहिये। इन वर्णनों में अभवत् आदि भूतकालिक क्रियाओं के प्रयोग से प्रायः भ्रम हो जाता है कि ऐतिहासिक घटनाओं की भाँति यह भी एक घटना है जो भारतीय वाङ्मय में किसी निश्चित काल और देश में हुई मानी गई है। परन्तु वस्तुतः यह 'सृष्टि' तो नित्य है जो निरंतर होती रहती है—समाजब्रह्म या पुरुष अपने को 'प्राणन' तत्त्व के द्वारा संरक्षण, संग्रहण एवं वितरण में व्यक्त करता

रहता है। यहाँ सृष्टि का अर्थ किसी वस्तु का निर्माण नहीं अपितु किसी मूल स्रोत में से उसे बाहर निकालना या छोड़ना भर है। जिस प्रकार व्यष्टिगत ब्रह्म या आत्मा अपने को प्रापण-तत्त्व द्वारा शरीर की संरक्षण, सम्रहण एवं वितरण क्रियाओं के के रूप में व्यक्त करता रहता है, उसी प्रकार समष्टिगत पुरुष भी समाज की इन सभी क्रियाओं में व्यक्त होता रहता है, जिनको क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, विश और शूद्र श्रम कहा गया है[1]। इसी को दूसरे शब्दों में पुरुष-यज्ञ[2] कहा गया है जो व्यष्टि और समष्टि में समान रूप से होता रहता है।

उक्त उद्धरण में ब्रह्म से तत्त्व-चतुष्टय के उत्सृजन को विकल्प से 'विभवन' (विशेष या विविध रूप में होना) भी कहा गया है— अर्थात् समाज ब्रह्म या पुरुष अपना विशेषीकरण या विविधीकरण करना चाहता है; इसीलिये वह उक्त तत्त्व-चतुष्टय का उत्सृजन करता है। जैसा कि ऊपर (पृ० ५६—७५) बतलाया गया है, प्रापन, संरक्षण, संग्रहण और वितरण का न केवल अन्योन्याश्रय संबन्ध है अपितु पृथक-पृथक उनमें से किसी का अस्तित्व ही नहीं है। इसीलिये पुरुष-सूक्त में शरीर के रूपक द्वारा बतलाया गया है कि ब्राह्मण मुख, क्षत्रिय हाथ, वैश्य उरु तथा शूद्र पैर हैं। यहाँ ऊँच-नीच के भेदभाव का प्रारम्भ देखना या तो मूर्खता है शरारत। पुरुष-सूक्त का अ० वे० ८, १० में विराज, अ० वे० १५ में व्रात्य और बृ० उ० में १,५ में

(१) देखिये पृष्ठ ७५—८५ ऊपर।
(२) दे० पृष्ठ ५६—७३ ऊपर।

ब्रह्म से होने वाली सृष्टि के वर्णन के साथ तुलना करने से स्पष्ट पता लगता है कि वैदिक समाजशास्त्र का इन वर्णनों से यही अभिप्राय है कि पालन, संरक्षण, संग्रहण और वितरण के ही पर्यायवाची क्रमशः ब्रह्म क्षत्र, विश, और शूद्र शब्द हैं और इन श्रम-तत्त्वों में समष्टिगत ब्रह्म या पुरुष की ही अभिव्यक्ति होती रहती है। यही कारण है कि बृहदारण्यक के उक्त उद्धरण में ब्राह्मण हो को मनुष्यों में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होते बतलाया गया है। अन्यत्र भी क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र को ब्रह्म से उत्पन्न होने वाला अतः ब्राह्मण कहा गया है[1]। इस प्रकार के सृष्टि वर्णनों में ऊँच-नीच का भेदभाव देखने वालों को ध्यान रखने की बात यह है कि ब्रह्म ने अपने विशेषीकरण या विविधीकरण करते हुये क्षत्र तत्त्व की सृष्टि करके संतोष नहीं प्राप्त किया; इतने में तो वह विशेषीकृत या विविधीकृत हुआ ही नहीं (सनैव व्यभवत्त)। ब्रह्म के विशेषीकरण या विविधीकरण को तब तक सफल नहीं समझा जाता, जबतक विश और अन्त में शूद्र का उत्सृजन नहीं हो जाता। उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा उपभोग में प्रकृत सामाजिक क्रिया (Social function), जिसके द्योतक विश और शूद्र हैं, ही वस्तुतः समाज को गति प्रदान करती है; अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उन्हें ऊरु या पाद कहा जाय। विश और शूद्र श्रमतत्त्व फिर भी समाज-रूपी मोटरकार के पेट्रोल और पहिये ही हैं; इनका उपयोग करने वाला ड्राइवर तो क्षत्र श्रम-तत्त्व ही है जो अपनी

(१) श० ब्रा० ३, २, १, ४०।

'संरक्षण' और 'संचालन' क्रिया द्वारा उक्त दोनों तत्त्वों को वस्तुतः सक्रिय करता है। इसीलिये पुरुष-सूक्त में क्षत्र को बाहू और अन्यत्र कर्ता कहा गया है (श० ब्रा० ४, १, ४, १)

हमारे श्रम-तत्त्वों से मिलती-जुलती कल्पना आधुनिक समाजशास्त्र में भी पाई जाती है। यूंग ने श्रमतत्त्व को 'परसना' (Persona) कहा है। 'परसना' वस्तुतः वह मोहरा है जिसको लगाकर हमारे यहाँ रामलीला में कोई व्यक्ति हनुमान, कुम्भकरण रावण आदि बन जाता है। जब तक हनुमान, रावण या कुंभकरण का मोहरा लगा रहता है, तब तक वह व्यक्ति अपने को हनुमान आदि समझता रहता है और उसे सदा ध्यान रहता है कि अमुक कार्य मेरा है; अमुक कार्य मेरे अनुपयुक्त है; अमुक से मेरा गौरव बढ़ेगा।" देखा जाय तो इसी प्रकार चेहरा या मोहरा अप्रत्यक्ष रूप में प्रत्येक व्यक्ति के लगा हुआ है—प्रत्येक व्यक्ति ने अपने लिये अज्ञात रूप में एक आदर्श सा बना रक्खा है अथवा उसके लिये बना हुआ है जिसके अनुसार वह अपनी गतिविधि को ढलती हुआ देखता है। एच. जी. वेल्स ने इस 'परसना' को 'Ideals of roles' (श्रम विधियों के आदर्श) कहा है। वस्तुतः यही वस्तु है जिससे हम किसी व्यक्ति को पहचान सकते हैं—उसकी श्रमविधि के आदर्श लक्ष्य को जान सकते हैं। प्राचीन भारत में इसी 'परसना' या गतिविधि के आदर्श के लिये 'वर्ण' शब्द का प्रयोग होता था। किसी व्यक्ति को वर्ण-विशेष का बतलाने से काले-गोरे या

[illegible] का बोध न होकर उसकी ब्राह्मण आदि श्रम-विधि [illegible] का ही बोध होता रहा है। फिर भी यदि हम लोग वर्ण [illegible] जन्म से ही मानने लगे हैं, तो उससे 'वर्ण' शब्द के समाजशास्त्रीय अर्थ का महत्त्व कम नहीं होता। यों तो आज हम इसके लिये 'परसना' (Persona) की भाँति ही 'मोहरे' शब्द का प्रयोग कर सकते हैं, परन्तु 'वर्ण' शब्द के पीछे जो इतिहास और परंपरा है उससे सम्बन्ध छूट जाता है।

अस्तु, उक्त पालन, संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण के श्रम-तत्त्वों के अनुसार व्यक्तियों को 'श्रम विधियों के आदर्श' बनते हैं और इन्हीं 'श्रम-विधियों' या 'मोहरों' (Personas) के आधार पर समाज में वर्गीकरण होता ही है; इस दृष्टि से संसार में कोई भी समाज वर्गरहित न हुआ है और न हो सकता है। श्रम-विधियों के आदर्शों (roles of ideals) के अनुसार समाज के इसी प्रकार के वर्गीकरण की ओर संकेत करते हुये वेल्स कहते हैं— "We find them subdued to the conception of the classes to which they belong. We find them all sying to themselves —This is what I am this is what is becoming for me to do. This is what I will not endure" हम देखते हैं कि लोग जिन वर्गों से संबन्ध रखते हैं उन्हीं की कल्पनाओं के वे वशीभूत हैं। वे सब यही कहते हुये दिखाई पड़ते हैं कि 'यही तो मैं' हूं। यही तो मेरे लिये करना उचित है। अमुक ऐसी बात है जिसे मैं सहन नहीं कर सकता।'

असल बात यह है कि समाज को जीवित और प्रगतिशील रहने के लिये यह आवश्यक है कि उक्त असविधियों (roles) का वर्गों में विशेषीकरण हो; इसीके परिणाम-स्वरूप शासन, संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण प्रणालियों के अमतत्त्व क्रमशः ब्रह्म, क्षत्र, विश तथा शूद्र निज निज की प्रधानता से व्यक्तियों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्गों का निर्माण करते हैं। वैश्य और शूद्र वर्गों पर समाज का सारा आर्थिक संगठन, उत्पादन से लेकर विभाग और उपभोग तक टिका हुआ है; और इन वर्गों में निहित 'सामाजिक क्रिया' (Social function) सम्पूर्ण समाज के सुख और सुविधा का प्रमुख साधन तथा द्वार होने से, यह आवश्यक है कि इस क्रिया का सम्यक संकलन करने के लिये समाज की संगठित इच्छा-शक्ति हो। इसी संगठित इच्छा शक्ति को 'सामाजिक उद्देश्य' (Social Purpose) कहा गया है। यही क्षत्रिय का असविधि (role) है, जिसके बिना 'संवनन' (Community) संभव नहीं— 'संवनन' जिसके बिना समाज में समाजत्व ही नहीं आता। मैकाइवर[1] के शब्दों में, "संवनन (Community) ही समाज है"; समाज में उन व्यक्तियों के असंख्य संकल्पों और उद्देश्यों से उत्पन्न होने वाली सम्बन्ध-शृंखलायें समवेत रहती हैं जो अपने तादृश्य एवं अन्योन्याश्रयत्व अथवा एक शब्द में कहें तो 'संवनन'—अनुभव करते हैं।" जन-मन का यह क्षत्रिय-जनित संवनन वैश्य और शूद्र

(१) The Elements of Social Science P, 8,

[illegible] और वितरण की सामाजिक क्रिया [illegible] सभी सफल हो सकती है, जब क्षत्रि-वर्ग ([illegible] और सञ्चालक) प्रबुद्ध 'सामाजिक चेतना' (Social Consciousness) के सूत्रधार 'ब्राह्मणवर्ग' के अधीन हो ([illegible] ब्रह्मणः क्षत्र वशमेति तद्राष्ट्रं समृद्धम् [illegible] ८, ६,), क्योंकि समाज की आवश्यकता को विचारना समझना ब्राह्मण का काम है और क्षत्रिय तो केवल कर्ता ही है। (श० ब्रा० ४, १, ४, १)

इसका अभिप्राय यह है कि यह चारों मोहरे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—अन्योन्याश्रित तथा परस्पर-संबद्ध हैं। इसी प्रकार के सामाजिक मोहरों (Personas) के विषय में [illegible] ने लिखा है—" इस विशाल आर्थिक संगठन में प्रत्येक उत्पादन क्रयण और विक्रयण आदि करने वाले कार्यरत व्यक्ति [illegible] एक 'मोहरा' (Persona) है—निज की एक कल्पना है, जो या तो न्यूनाधिक रूप में अपनी श्रमविधि (role) में सामञ्जस्य रखती है या उसके विरुद्ध विद्रोह करती हुई होती है। मनुष्यजाति का आर्थिक समाज आज अपेक्षाकृत अधिकाधिक जटिल और केन्द्रीकृत होता जाता है। इसके निरन्तर प्रगतिशील संचलन के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके विभिन्न व्यापारों एवं उन व्यापारों में व्यापृत असंख्य मोहरों (Personas) में टिकाऊ सामञ्जस्य हो। .... समाज के आर्थिक ढांचे के अन्तर्गत न मालूम अर्थशास्त्र की कितनी मौलिक प्रणालियाँ हैं और इन प्रणालियों के पीछे

छिपी रहती है 'सामाजिक चेतना'; इस चेतना की प्रेरक शक्ति है 'सामाजिक संकल्प, । यह चेतना जितनी ही अधिक स्पष्ट होगी, हमारी जाति के 'मोहरों' (Personas) का 'संकल्प' भी उतना ही अधिक संगठित होगा और उतना ही आशामय तथा प्रगतिमय होगा इस मानवीय वल्मीक (बाँवी) का व्यापार।

अब प्रश्न यह है कि इन 'मोहरों' का केन्द्रीकरण और विशेषीकरण कैसे होता है। संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि यह सब 'श्रम-विभाजन' द्वारा होता है। मैकाइवर महोदय अपने " Labour in the changing world " में लिखते हैं कि एक संगठन के विकास का इतिहास ही एक प्रकार से मानव का इतिहास है-संगठन जो कि प्रत्येक व्यक्ति के कार्य को विविध और विभिन्न बनाता हुआ उसे औरों पर अधिकाधिक आश्रित बना देता है, जिससे वह स्वार्थनिष्ठा (Self suffciency) का समर्पण करके, जीवन की पूर्णता के रूप में उसका सहस्रगुना प्रतिफल प्राप्त कर सके। जीवन की पूर्णता' में सहस्रगुना प्राप्त करने के लिये होने वाले 'स्वार्थनिष्ठा-समर्पण' को ही दूसरे शब्दों में 'श्रम-विभाजन' कहा जाता है, और इसे ही आर्थिक क्षेत्र की भाँति ही संपूर्ण। 'सामाजिक क्षेत्र' में भी सामाजिक व्यवहार के विशेषीकरण का हेतु समझा जाना चाहिये। बस, डुर्कहाइम (M, Durkheim) ने अपने " La Division du Travail Social " में लिखा है कि समाज को सफल और सबल बनाने

के लिये 'सामाजिक संश्लेषण' की बहुत आवश्यकता है— यह संश्लेषण केवल 'यन्त्रीय' दृढ़ता के स्थान पर 'शरीरीय' (organic) दृढ़ता उत्पन्न करे, इसके लिये यह आवश्यक है कि समाज सहकार और सहयोग से होने वाली बचत के महत्त्व को समझे तथा प्रत्येक इकाईयां वर्ग को सार्वजनिक कार्य का एक भाग-विशेष सौंपे। अतः प्रस्तुत प्रसंग में; हम कह सकते हैं कि समाज को यह आवश्यक है कि वह सामाजिक चेतना, सामाजिक उद्देश्य (या संकल्प) तथा उत्पादन, विभाजन और उपभोजन आदि में लगी हुई सामाजिक क्रिया का कोई न कोई भाग विशेष प्रत्येक इकाई या वर्ग को सौंप दे। इसी के परिणाम-स्वरूप ही प्रागुन, संरक्षण, संग्रहण तथा वितरण अथवा उनके अन्तर्गत अन्य श्रम-विभाजनों का अस्तित्त्व होता है— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आदि 'मोहरों' (Personas) का जन्म होता है।

आधुनिक विकासवाद के ढंग पर

एक आश्चर्य की बात यह है भारत के प्राचीन साहित्य में ऐसे प्रमाण भी मिलते हैं जिनसे उक्त श्रमतत्त्वों (ब्रह्म, क्षत्र, विश और शूद्र) के क्रमिक विकास की खोज भी की गई प्रतीत होती है। इस खोज का क्षेत्र न केवल मनुष्य या पशु-जगत तक ही सीमित रहा, अपितु उसमें वनस्पति तथा खनिज पदार्थ भी इसके अन्तर्गत ले लिये गये। वस्तुतः यह बात विचित्र सी लगेगी, क्योंकि न केवल पेड़-पौदों और जड़ कहे जाने वाले

खनिजों में, अपितु बहुत से पशुओं में भी किसी प्रकार के सामाजिक संबन्धों का अस्तित्त्व कवि-कल्पना या बाल-लीला के अतिरिक्त अन्यत्र सर्व साधारण की दृष्टि में हास्यास्पद ही समझा जायेगा। परन्तु सर्वसाधारण की वह दृष्टि वैज्ञानिकता से कोसों दूर है। व्यक्तियों की पारस्परिक संबन्ध-शृंखलायें, शारीरिक और मानसिक, ही तो समाज की रचना करती हैं, और जैसा कि प्रथम अध्याय में देख चुके हैं, इन संबन्ध-शृंखलाओं का मूल है वह आन्तरिक 'चित' जो बाह्य जगत् के प्रति आत्माभिव्यक्ति किये बिना रह नहीं सकता और जिसका अस्तित्त्व न केवल मनुष्यों, पशुओं, और वनस्पतियों में हो सकता है, अपितु उन पदार्थों में भी जिन्हें साधारणतया जड़ माना जाता है। अतएव वैज्ञानिक दृष्टि से तो जीवन-विकास के इतिहास में ऐसी कोई अवस्था नहीं हो सकती जब सामाजिक व्यवहार के तत्त्वों का अत्यंताभाव हो। तो, विकास के विभिन्न स्तरों पर समाजिक व्यवहार में विभिन्नता और विविधता लाने वाला कौन है?

वस्तुतः यह विभिन्नता और विविधता इसलिये नहीं है कि किसी विकास-स्तर पर सामाजिक व्यवहार के तत्त्वों का अभाव है अपितु इसलिये है कि उस सामाजिक व्यवहार की अभिव्यक्ति के प्रकार में भेद होजाता है और अभिव्यक्ति का प्रकार निर्भर रहता है उन भौतिक यंत्रों (शरीरों या पिण्डों) पर जिनके द्वारा 'चित'अपने को व्यक्त करता है, बाह्य जगत् का 'नामकरण'

[illegible] उसका निरूपण करता है। अतः विभिन्न विकास-स्तरों [illegible] सामाजिक व्यवहार के भेद का मूल कारण है। [illegible] या संरक्षक व्याघ्र से इन्द्रित कहा जा सकता है (क्षत्रं वा एतदारण्यानां पशूनां यद् व्याघ्रः, ऐ० ब्रा० ८, ६), क्योंकि वह तथा वैसे ही अन्य हिंसक पशु अपने जातक के अपने सार्वजनिक शत्रुओं को अरण्य में घुसने से रोकते हैं, परन्तु जहाँ तक उनके समाज के व्यक्तियों में पारस्परिक व्यवहार का सम्बन्ध है, विघटन और वैमनस्य ही उसकी विशेषताएं हैं—दूसरे शब्दों में, बाह्य शत्रु से संरक्षण का 'सामाजिक सङ्कल्प' तो वहाँ विद्यमान है, परन्तु उसकी सम्यक् पूर्ति कराने वाली उस 'सामाजिक क्रिया' (Social function) का अभाव है जो परस्पर सहयोग और सहकार की अपेक्षा रखती है, अपितु यहाँ तो उसका प्रतियोगिक (antithetical) और विघटनकारी (disintegrating) रूप ही दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार वनस्पतियों में वट[1], ओषधियों में व्रीहि[2] या दूर्वा तथा खनिजों में हिरण्य[3] को किसी सीमित अर्थ में तत्तद्वर्ग का क्षत्र कहा जा सकता है और इन वर्गों का पारस्परिक व्यवहार भी प्रतियोगिक तथा विघटनकारी नहीं है। परन्तु इन सब का पारस्परिक सम्बन्ध इतना

१—क्षत्रं वा एतद् वनस्पतीनां यन्न्यग्रोधः ऐ० ब्रा० ८, ८,

२—क्षत्रं वा एतदोषधीनां यद् व्रीहयः ऐ० ब्रा० ८, १६; क्षत्र वा एतद् ओषधीनां यद् दूर्वा, ऐ० ब्रा० ८, ८;

३—क्षत्रस्यैतद्रूपं यद्धिरण्यम् श० ब्रा० १३, २, २, १७,

सज्ञान और सचेतन नहीं है कि वह उनके वर्गों में 'सामाजिक क्रिया' (Social function) को सफल बनाने वाला 'शरीरीय संश्लेषण' (organic cohesion) उत्पन्न कर सकें।

पशु-जगत् में तो सामाजिक जीवन के अनेक तत्त्व न्यूनाधिक रूप में पाये जाते हैं, यद्यपि वे सब एकत्र नहीं होते। बन्दर आदि परस्पर मिलते-जुलते हैं; उनमें किसी सीमा तक स्वार्थ-निष्ठा का समर्पण' तथा अन्योन्याश्रयत्व का भाव भी दिखाई पड़ता है, परन्तु उनमें संग्रह-वृत्ति नहीं और न संभवतः 'सामाजिक जीवन के युग—युगान्तरस्थायी प्रवाह' की ही कोई कल्पना है; जिससे उनकी 'सामाजिक क्रिया' (Social Function) एक वास्तविक शक्ति हो सके। इसी प्रकार कुत्ते और भेड़िये न केवल परस्पर 'सी-सी' खेलते हैं, अपितु झुन्ड बनाकर शिकार भी करते हैं, परन्तु उन्हें भविष्य की तो शायद ही कोई चिन्ता हो। गिलहरियों और बयों में संग्रह-वृत्ति है, परन्तु उनमें वह 'शरीरीय संश्लेषण' (organic Cohesion) नहीं जो उसको एक सामाजिक शक्ति बना सके। अधिकांश स्तनपायियों (mammals) में समज-वृत्ति' (herd instinct) है, और वे इस हद तक परस्पर मिलने जुलने वाले भी कहे जा सकते हैं, परन्तु उनमें सामाजिक जीवन के चिर-प्रवाह की कोई सहज-कल्पना (instinctive idea) नहीं, इसी से उनमें परिरक्षण और परिग्रहण की वृत्ति नहीं पाई जाती। चींटियों, दीमकों और ममाखियों में मानव-समाजों

की भाँति ही व्यक्तित्व का विस्तार, स्वार्थनिष्ठा से ऊपर उठना, सामाजिक जीवन के प्रवाह की सहज-कल्पना आदि अनेक बातें पाई जाती हैं, परन्तु उनकी 'सामाजिक क्रिया' (social function) में उस विविधता, स्थिति-स्थापकता तथा सजगता का प्रायः सर्वथा अभाव होता है जिसके कारण मानव-समाज संगृहीत प्रथाओं, अपूत परंपराओं तथा जीवन के संकलित अनुभवों का भाण्डार होने के साथ ही उन सहस्रों सघर्षों एवं ऐक्यों का क्षेत्र भी हो जाता है जो एक समुदाय के व्यापक उद्देश्य के अन्तर्गत पनप सकते हैं।

अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि न्यूनाधिक रूप में सामाजिक जीवन के तत्त्व पालन, संरक्षण, संग्रहण, तथा वितरण अथवा ब्रह्म, क्षत्र, विश और शूद्र प्रायः सभी स्तरों पर रहते हैं, और इनके स्वरूप में परिवर्तन का कारण है इनकी अभिव्यक्ति का माध्यम—वह मनोकायिक (Psycho physical) रचना जो सृष्टि के प्रत्येक स्तर के पास होती है। खनिज जगत् में जो सामाजिक जीवन है उसे हम शून्यांक मान लें और मनुष्य जगत में उसे शतांक मान लें, तो हम देखेंगे कि सामाजिक जीवन के तत्त्व क्रमशः विकसित होते रहे हैं—खनिज-जगत् में सामाजिक जीवन के लक्षण निष्क्रिय सहिष्णुता (Passivity) तथा स्वार्थनिष्ठा (self-sufficiency) है, तो वनस्पिति जगत् में वे, प्रायः, सक्रिय उदासीनता (active indifference) तथा नियति-निर्मित सहयोग एवं विरोध हैं; ग्राम्य और आरण्यक पशुओं का सामाजिक जीवन सक्रिय

समाज-विरोधी हिंसा रखता है जिसको आधुनिक विचारधारा में, सामाजिक क्रिया का विकार (perversion), विरोध (oppositon) तथा प्रपञ्च (confusion) कहा जाता है: कीट समुदायों में सामाजिक जीवन की विशेषता है यांत्रिक संश्लेषण, अन्योन्याश्रयत्व तथा 'स्वार्थ-निष्ठा-समर्पण' जब कि मानव समुदायों में संश्लेषण आदि 'शरीरीय' (organic) होता है, जिसमें सामाजिक क्रिया को 'जीवन की पूर्णता' में बदल देने के लिये पर्याप्त स्थितिस्थापकता, विविधता एवं क्षमता होती है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि सामाजिक व्यवहार का विकास निष्क्रिय स्वार्थ-निष्ठा से सक्रिय प्रतियोग (active antithesis), सक्रिय प्रतियोग से यांत्रिक संश्लेषण और सहयोग तथा यांत्रिक संश्लेषण और सहयोग से मानव-समाज के स्थिति-स्थापक 'शरीरीय' संश्लेषण की ओर हुआ है। यदि आधुनिक विज्ञान से उपर्युक्त उदाहरणों एवं दृष्टान्तों को लेकर इस विषय का विस्तृत विवेचन किया जाय, तो यह बड़ी रोचक शोध-सरणि हो सकती है। परन्तु, विस्तार-भय से हम केवल एच० जी० वेल्स की 'साइंस आफ लाइफ' की ओर ही इंगित कर सकते हैं, जहाँ कि आवश्यक सामग्री प्रचुर मात्रा में मिल सकती है; यद्यपि वह ग्रन्थ भौतिक दृष्टि से लिखा गया है, परन्तु फिर भी जो सामग्री वहां दी गई है उसका उपयोग हमारी दृष्टि के समर्थन के लिये भली भांति किया जा सकता है।

———

विकास के मत

भारतीय साहित्य में, विशेषकर वैदिक और पौराणिक साहित्य में, कम से कम पशु-जगत से मानव-समाज तक जो सामाजिक व्यवहार है उसके विकास पर पर्याप्त चर्चा मिलती है। भारतीय ऋषियों ने समाजशास्त्र का अध्ययन संपूर्ण जीवन को लक्ष्य में रख कर किया प्रतीत होता है, जिसके फलस्वरूप उन्होंने कुछ मत भी स्थिर किये हैं जो आधुनिक विद्वानों द्वारा सर्वथा मननीय हैं। भारतीय समाजशास्त्र के इन मतों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ऐतिहासिक मत (२) आत्मवादी मत तथा (३) अवतारवादी मत। इनमें से प्रत्येक पर पृथक पृथक संक्षेप में विचार करना यहाँ उपयोगी होगा।

ऐतिहासिक मत

यास्क के निरुक्त[1] में सुरक्षित एक परंपरा के अनुसार, ऐतिहासिक मत से पशुओं को चार वर्गों में विभाजित किया जाता था, जिनके नाम क्रमशः सरीसृप, वयः, सर्प और मनुष्य हैं। शतपथ ब्राह्मण[2] में संभवतः इसी मत का उल्लेख है, जब कि पशुओं को क्रमशः सरीसृप, वयः, पशु तथा मनुष्य वर्गों में विभक्त बतलाया गया है। यदि दोनों मत एक ही हैं, तो यह

१—१३, ६

२—४०, १, ३, १६

स्पष्ट है कि तीसरे वर्ग का नाम सर्प भी था और पशु भी। सर्प प्रायः साँप को कहते हैं, और इसमें संदेह नहीं कि वैदिक साहित्य[३] में भी इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में होता था। परन्तु, प्राणियों के वर्गीकरण के एक नाम, पशु शब्द के पर्यायवाची तथा सरीसृप से भिन्न एक पृथक पारिभाषिक शब्द के रूप में जो 'सर्प' शब्द होगा वह साधारण 'सर्प' शब्द से भिन्न माना जायेगा।

साधारणतया सरी, सृप और सर्प शब्द एक ही धातु 'सृ' से निकले हुये बताये जाते हैं। परन्तु, विचार करने पर मालूम पड़ता है कि संभवतः तीन धातुयें सृ, सर और सर्प (जो सर्व या शर्व रूप में भी पाई जाती है) विभिन्न प्रकार की गति को व्यक्त करती थीं—'सृ' धातु मूलतः जल की गति की द्योतक थी, फिर वह जलचरों की और तत्पश्चात् पादहीन जन्तुओं की जल के भीतर तैरने और बाहर होने वाली गति की द्योतक हुई; 'सृप' धातु ('सृ' जल की गति और 'प' पाद गति का द्योतक) से संभवतः जलवत् सरकने तथा स्थल में पैरों से रेंगने वाले जन्तुओं की गति प्रकट होती है; 'सर' धातु स्यात् भूमि पर होने वाली, प्रथम प्रकार (पादहीन) की गति की द्योतक थी, जब कि 'सर्प' धातु से द्वितीय प्रकार (सरकने और दौड़ने) की तीव्रतम गति समझी जाती थी। 'सर्प' धातु

३—तु० रज्जुरिव हि सर्पाः कूपा इव हि सर्पाणायतानान्यस्ति वै मनुष्याणां च सर्पाणां च भ्रातृव्यम् श० ब्रा० ४, ४, ५, ३,

आज भी हिन्दी के 'सरपट' शब्द में पाई जाती है और चतुष्पदों की तीव्रतम गति की सूचक थी। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि 'पशु' शब्द के पर्यायवाची के रूप में 'सर्प' शब्द संभवतः सभी चतुष्पदों अथवा स्तनपायी पशुओं का नाम था क्योंकि उन सब में 'सर पट' गति की क्षमता है। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सरीसृप वर्ग के अन्तर्गत वे सभी पशु आना चाहिये जिनकी गति स्रु, सर और सृप् धातुओं से व्यक्त होती है—अर्थात्, (१) वे पशु जो जल में विचरते हैं, (२) वे पशु जो जल और थल दोनों में विचरते हैं तथा (३) वे पशु जो बिना पैरों के ही जल की भांति ही भूमि पर दौड़ते फिरते हैं। दूसरे शब्दों में सरीसृप वर्ग में, जलचर, उभयचर (amphibia) तथा भूसर (repatiles) का समावेश होता है। वयस् वर्ग स्पष्टतः ही 'वियत' (आकाश) के प्राणी नभचरों का वर्ग है। अतः इस वर्गीकरण में विकासवाद का जो मत अन्तर्हित है उसके अनुसार पहले पशु-जीवन जल (तु० सृ, सर) से प्रारंभ होकर अर्द्ध-जल और अर्द्ध-स्थल में विचरने वाले उभयचर (amphibian) जगत् में होता हुआ भूसर (raptiles) के स्तर पर पहुंचा, जिससे सम्भवतः एक ओर 'वय' (नभचर) और दूसरी ओर स्तनपायी और मनुष्यों का विकास हुआ माना जाता था।

इस ऐतिहासिक मत की तुलना आधुनिक विचारधारा से करने पर दोनों में बहुत कुछ साम्य प्रतीत होता है। आधुनिक मत में भी पशु जीवन का प्रारम्भ जल में ही माना जाता है।

एच. जी. वेल्स 'साइंस आफ लाइफ' में लिखते हैं—"जहाँ जहाँ समुद्र तट था, वहीं वहीं जीवन था और वह जीवन जल को ही अपना गृह, अपना साध्दस तथा अपनी मूल आवश्यकता मानकर बढ़ता गया।" सर्व प्रथम 'पूर्व पैलियोजोइक काल' आता है जिसमें चेप-मत्स्य (Jelly-fish) जैसे क्षुद्र शरीरीय जल में रहते थे; इसके पश्चात् 'उत्तर पैलियोजोइक काल' आता है, जिसमें प्रथम प्रकार के जन्तुओं में से वे जन्तु हुये जिनकी खाल अपेक्षाकृत स्थूल थी और जो स्थलीय परिस्थितियों के अधिक उपयुक्त थे— इस प्रकार मेढ़क, कछुये आदि उभयचर हुये जो जो जल और थल दोनों में ही रह सकते हैं। तीसरी अवस्था मेसोजोइक काल की है जिसमें भूसरों (reptiles) का उदय होता है, जो, उभयचरों की भाँति, जल से सारा नाता तोड़कर स्थल पर ही रेंगने लगे। इन तीनों अवस्थाओं के जन्तु ऐतिहासिकों के सरीसृप वर्ग में आते हैं।

उत्तर मेसोजोइक काल में एक प्रकार के भूसर (reptiles) 'उड़ाकू भूसरों' (flytng reptiles) में और दूसरी प्रकार के पक्षियों में विकसित होगये। मेसोजोइक का परवर्ती काल कैनजोइक काल कहलाता है, जिसमें 'भूसरों' से स्तनपायी तथा स्थनपायी से मनुष्य हुये माने जाते हैं।

यद्यपि ऐतिहासिक मत का विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं है, परन्तु उपर्युक्त वर्गीकरण (सरीसृप, सर्प, वयः और मनुष्य) तथा स्वयं 'ऐतिहासिक' नाम से ऐसा पता चलता है कि सम्भवतः

यह मत आधुनिक विकासवाद की भाँति ही पशु वर्गों के क्रमिक विकास का ऐतिहासिक क्रम जानने के लिये प्रयत्नशील था। अतः ऐतिहासिक मत अपने ढंग का सर्वप्रथम प्रयत्न था, जिसमें न केवल 'अनन्तकाल में इस विश्व की सुदृढ़ अवधि' का कुछ अनुभव करने का प्रयत्न किया, अपितु मानव इतिहास को जीव-जगत् की प्रथम आविर्भूति से जोड़कर भारत वर्ष के लिये एच. जी. वेल्स के निम्न लिखित शब्दों को और अधिक औचित्य प्रदान किया है—"प्राचीन जातियों में, भारतीय दार्शनिक ही ऐसे हैं जिन्होंने जीवन के सुदीर्घ युगों की कोई कल्पना की है, क्योंकि पाश्चात्य जगत् में डेढ़ दो शताब्दी पहले तक तो वस्तुओं के अस्तित्व की जो अवधि लोगों की कल्पना में थी वह इतनी छोटी थी कि उस पर अब आश्चर्य होता है। १७७९ ई० में, लन्दन की प्रकाशन संस्था द्वारा प्रकाशित 'यूनिवर्सल हिस्ट्री' (Universal History) में दुनियाँ की सृष्टि केवल ४००४ ई० पू० में और मनुष्य की सृष्टि फरात नदी के तट पर बताई गई थी।'

आत्मवादी मत

सम्भवतः आधुनिक विकासवाद की भाँति ऐतिहासिक मत भी पूर्णतया जड़वादी हो गया था। इसीलिये उसके विरोध में एक और विकासवादी मत का जन्म हुआ, जिसका नाम था 'आत्मवाद'। आत्मवाद ऐतिहासिक मत के विपरीत आध्यात्मिक दृष्टि को अपनाता हुआ मालूम पड़ता है। इसे इससे

प्रयोजन नहीं कि मनुष्य का शरीर किन किन अवस्थाओं में होकर आया है ; वह यह जानना चाहता है कि मनुष्यता किन अवस्थाओं में होकर गुजरी है।

आत्मवाद भी पशुओं को चार वर्गों में बाँटता है—(१) पशु, (२) तूणव, (३) मृग तथा (४) आत्मा। इस वर्गीकरण का यह अभिप्राय नहीं कि इसके अनुसार प्राणियों को आत्म और अनात्म में विभक्त कर मनुष्येतर प्राणियों में, फ्रेंच दार्शनिक देकार्ते की भाँति, आत्मा के अभाव की कल्पना की गई हो। इस प्रकार की कल्पना भारत में कहीं भी नहीं मिलती। इस वर्गीकरण में अंतिम वर्ग का नाम 'आत्मा' रखने से, संभवतः यही प्रयोजन है कि चारों वर्गों में क्रमशः आत्मतत्त्व का विकास हुआ है। यहाँ 'आत्मन्' शब्द का अर्थ या तो 'हम स्वयं (मनुष्य) है अथवा इसका अभिप्राय यह है कि आत्मा की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति मनुष्य तथा मनुष्यसम शरीरों में ही हो सकती है और इसलिये पशु से मनुष्य में विकास बतलाने का लक्ष्य आत्मा— जो कि अविकारी है—का विकास बतलाना नहीं, अपितु उसके आवास शरीर अथवा उसके द्वारा होनेवाले व्यवहार का विकास बतलाना है।

आत्मवादी वर्गीकरण में प्रथम और तृतीय वर्गों के नाम क्रमशः पशु और मृग हैं जो साहित्य में प्रायः पर्यायवाची के रूप में आते हैं। परन्तु, यहाँ निश्चित ही ये दोनों शब्द भिन्न भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हैं, इन दोनों का अर्थ निश्चित करने के लिये, निर्वचनशास्त्र ही हमारा सहायक हो सकता है।

पशु शब्द की व्युत्पत्ति 'पश्यतीति पशु' अथवा 'सर्वम-विशेषेण पश्यतीति पशुः' की जाती है। साधारणतया 'पश्यति' को दृश धातु का ही एक रूप माना जाता है, परन्तु ध्यान से देखने पर पता चलता है कि 'दृश्' और 'पश्' दो पृथक पृथक धातुयें थीं जो कालान्तर में समानार्थक सी होने पर एक में ही मिल गईं। पिशेल और गेल्डनेर अपनी Vadik studien (१,२३६) में इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'पश्' वा 'पष्' शब्द का अर्थ मूलतः 'आँख' था। पश् धातु आज भी 'पश्यन्ती' (वेश्या), पश्यत् (निहारने वाला), पश्य: (साक्षी मात्र) आदि में पाई जाती है और उसका अर्थ 'आँखियाना, आँख लड़ाना, निहारना या आलोचन मात्र' प्रतीत होता है, जब कि 'दृश' धातु के 'दर्शन' का अर्थ अन्वीक्षण, समझना, बुद्धि, धार्मिक ज्ञान, दर्शनशास्त्र, का सम्प्रदाय', द्रष्टा शब्द का अर्थ "सूक्ष्म और पैनी दृष्टि रखने वाला" तथा दृश् का अर्थ है "ज्ञान"। इससे प्रकट है कि पश् धातु का मूल अर्थ केवल 'आलोचन मात्र' था, जिसमें किसी प्रकार की विवेक, विचार आदि सज्ञान क्रिया का प्राय: अभाव था। 'साइंस आफ लाइफ' के लेखक के शब्दों में अमाइवा से लेकर भूसर (reptles) अवस्था तक प्राणी "अत्यन्त मूढ़ होते हैं और अत्यंत धीमी गति से सीखते हैं; उनके जीवन का संपूर्ण व्यवहार संक्षेप में यही है 'पड़े रहो और देखा करो।' उनमें भोजन ढूँढने की तो प्रवृत्ति नहीं ही सी है; जब भोजन पास आजाता है, तभी उन पर 'जूँ' रेंगती है' और उनमें कोई

भोजन ग्रहण करने की प्रवृत्ति जागृत होती है। इसीलिये हमारे लोक-समय में सर्प को 'हवा' खाने वाला कहा जाता है और अजगरी वृत्ति निकम्मेपन का समानार्थक हो चली है। अतएव सरीसृप वर्ग (मत्स्य, उभयचर तथा भूसर) को 'पशु' कहना सार्थक हो सकता है।

आत्मवादी वर्गीकरण में दूसरा नाम 'तूणव' है। इस शब्द में 'तुण' धातु है, जिसका अर्थ (तुण् कौटिल्ये) है 'कुटिलता —धोका, मक्कारी, प्रपञ्च, आदि। अतएव तूणव शब्द का अर्थ है 'कुटिल, मक्कार, प्रपञ्ची' इत्यादि। अतः तूणव वर्ग के अन्तर्गत संभवतः वे सभी पशु-पक्षी आते हैं जिनका सहज ज्ञान और चातुर्य इतना विकसित है कि वे अपने अतीत के अनुभव से लाभ उठा सकते हैं और अपने भोजन के लिये छल-बल करके दूर दूर तक शिकार करने जाते हैं; 'अजगरी वृत्ति' में पड़े रहने से उनका काम नहीं चल सकता। इस वर्ग में मांसाहारी शेर, चीता तथा अर्द्धमांसाहारी कुत्ता, गीदड़ से लेकर बाज, शिकरा आदि शिकारी चिड़ियाँ तक आसकती हैं। इन पशुओं की बुद्धि अधिक विकसित होती है; वे जल्दी सीखते हैं, अतः वे शिक्षणीय होते हैं। 'साइंस आव लाइफ' में इनकी बुद्धि के विषय में लिखा है—"बहुतेरी शिकारी चिड़ियाँ अपने बच्चों को स्पष्टतः ही शिकार करना सिखाती हैं। बाज पक्षी शिकार को पकड़कर अंग-भंग कर देते हैं और फिर उसको समाप्त करने का काम अपने बच्चों को सौंप देते हैं। बहुत से हिंसक पक्षी अपने

बच्चों से अपने द्वारा पकड़ी हुई मछलियों पर चोट करवाते हैं। और बच्चे बड़े होने पर अपने माँ-बाप के साथ शिकार करने जाते हैं और ऐसा कहा जाता है कि जब तक वे १८ महीने के नहीं हो जाते तब तक स्वतंत्र रूप से शिकार नहीं करते।" इससे पता चलता है कि यह वर्ग पहले वर्ग से अधिक बुद्धिमान है, पहले वर्ग में सहज वृत्तियों को अधिक स्थान होने से वह शिक्षणीय होता है।

तीसरे वर्ग का नाम मृग है। यास्क के अनुसार (मार्ष्टेर्गतिकर्मणः) मृग का अर्थ है 'गतिशील प्राणी'। परन्तु, पाणिनि धातुपाठ' में एक 'मृग' धातु भी है जिसका अर्थ है 'ढूँढना, खोजना' अन्वेषण करना और जो संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त भी हुई है। इस धातु के अनुसार 'मृग' शब्द का अर्थ होगा "अन्वेषण करने वाला, सूक्ष्म खोज करने वाला।" आत्मवादी वर्गीकरण के बुद्धि-विकास पर अश्रित प्रथम दो नामों को ध्यान में रखते हुये, मृग शब्द की दूसरी व्युत्पत्ति ही अधिक युक्तियुक्त मालूम पड़ती है। हम देखते हैं कि घासाहारी और अर्द्ध-घासाहारी पशुओं और पक्षियों को अपने खाद्य को प्राप्त करने के लिये छोटी-छोटी अनेक वस्तुओं का परीक्षण करना पड़ता है और उनमें से अखाद्य को छोड़कर खाद्य को ही ग्रहण करना पड़ता है। यद्यपि इस कार्य में उन्हें अपनी सहज वृत्तियों से बहुत सहायता मिलती है, परन्तु फिर भी यह मानना पड़ेगा, कि

---

(१) मृग अन्वेषणे।

उन सहज-वृत्तियों की विविधता और विभिन्नता के लिये यहां पर्याप्त अवसर तथा आवश्यकता है। यदि मृगों की तुलना तृणवों से की जाय, तो ज्ञात होगा कि तूणवों को अपने भोजन के लिये अधिक 'अन्वेषण' या 'वरण' या 'छँटाव' की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्यों कि उनका भोजन प्रायः कोई न कोई पशु होता है जो स्पष्टतः ज्ञातव्य होता है। अतः तूणवों को अपनी विवेक शक्ति का प्रयोग बहुत करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा बहुत कम पशु-मांस होगा जो उनके लिये त्याज्य हो। इसके विपरीत, गाय, अश्व, हिरण आदि मृगों को असंख्य प्रकार के तृणों पत्रों और पुष्पों में अनेक छोड़ने पड़ते हैं और कुछ को ग्रहण करना पड़ता है, जब कभी इस अन्वेषण में त्रुटि रहती है, तो भयङ्कर परिणाम होता है—यथा, अलसी का पोदा खाने से हरिण और गाय को मूर्च्छा आ जाती है और कभी कभी मृत्यु भी हो जाती है; एक विशेष प्रकार का भुसखालेने से घोड़ी को 'कुरकुरी' का रोग हो जाता है।

अतः मृग वर्ग की विशेषता यह है कि उसमें खाद्य के लिये विवेकपूर्ण खोज होती है; इसके अतिरिक्त तूणवों की कुटिलता और मक्कारी का यहाँ सर्वथा अभाव रहता है। यही कारण है कि पशु-पक्षियों की कहानियों में धूर्तता और कुटिलता के लिये जो प्राणी प्रसिद्ध है वे तूणव-वर्ग के ही हैं और मांसाहारी या अर्द्ध मांसाहारी है।

आत्म-वर्ग चौथा है। इसमें मनुष्य तथा इससे मिलते जुलते लंगूर, वनमानुष और वानर आदि का समावेश होत

है। इस वर्ग के सभी पशु अपने बच्चों को खिलाते, पुचकारते और चूमते हैं, स्वयं खेलते, रोते, दुखियाते, हिरसाते, रिसाते और सहानुभूति प्रकट करते हैं। कोयलर ने इस दिशा में बड़ी महत्वपूर्ण खोज की है। वह अपनी पुस्तक Mentality of Apes में लिखता है कि—वन मानुष बहुत ही समाजप्रिय होता है; एकान्त में वह तरसता, मुरझाता और व्यथित तथा बेचैन होता है। लंगूर के भ्रातृत्व-भाव और समाज भाव (herd instinct) का उल्लेख करते हुये, कोयलर ने लिखा है—"जैसे ही आपका हाथ किसी एक पर पड़ता है, वैसे ही सारा झुंड मानों एक स्वर से चीख उठता है। कभी कभी तो आदमी और लंगूर के बीच वैरोन्मेषकारिणी एक साधारण घटना या झपटने का अभिनय ही सारे झुंड में एक क्रोध-तरंग को उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त हो जाती है। उस समय वे चारों ओर से एक सम्मिलित आक्रमण के लिये एकत्र हो जाते हैं और सब के सब क्रोधपूर्वक किलकिलाते हैं, इस किल किलाहट से उन सब को और भी अधिक भयङ्कर आक्रमण के लिये उन्हें प्रेरणा मिलती है। वास्तविक आक्रमण की भाँति ही प्रत्येक मिथ्याधारणा भी ऐसी ही अवस्था उत्पन्न कर सकती है; सारे झुंड में एक अंधा क्रोध छाजाता है और कभी २ तो यह तह भी हो जाता है जबकि झुंड के अधिकांश लोगों को यह भी पता नहीं होता कि पहली चीख-चिल्लाहट का कारण क्या है। यद्यपि इस सारे व्यवहार में सहानुभूति ओत-प्रोत है, परन्तु मनुष्य को छोड़कर अन्य सभी में 'तोताचश्मी' की

प्रवृति होती है। उदाहरण के लिये, यदि कोई वनमानुष बीमार हो जाय और उसे झुंड से अलग कर दिया जाय, तो अन्य वनमानुषों को उसकी कोई स्मृति आती नहीं प्रतीत होती है; यदि किसी का बच्चा उससे ले लिया जाता है, तो उसकी स्मृति भी क्षणिक होती है—कुछ देर तक ढूँढने के पश्चात् माता में उसकी स्मृति का कोई चिह्न नहीं दिखाई पड़ता।

आत्मवर्ग का सर्वश्रेष्ठ सदस्य मनुष्य है। उसमें न केवल बुद्धि अत्यंत विकसित होती है, अपितु उसमें भ्रातृत्वभाव सामाजिकता तथा सहानुभूति की अभिव्यक्ति सर्वोत्तम होती है। यह मनुष्य के लिये ही संभव है कि वह अपना समत्व सारे विश्व तक बढ़ा सके और अपने 'स्व' को सारे जीवों में देख सके। यदि हम उक्त सभी वर्गों पर एक साथ विचार करें, तो हमें ज्ञात होगा कि प्रथम वर्ग की व्यक्तिगत या सामाजिक क्रियाओं में विवेक का पूर्ण ही अभाव है और वे सर्वथा सहज-वृत्ति द्वारा प्रेरित होती हैं; यहाँ सामाजिक व्यवहार की विशेषता है 'मत्स्य-न्याय' और यहाँ भ्राता तथा भ्रातृव्य का अन्तर नहीं होता। दूसरे वर्ग में भी मत्स्य-न्याय तो रहता है, परन्तु उनमें भ्रातृत्व-भाव या समजभाव भी है—(उदाहरण के लिये कुत्तों और भेड़ियों का झुंडों में शिकार करना), यद्यपि वह केवल कुछ क्रियाओं तक ही सीमित होता है और इस वर्ग के प्राणी किसी किसी काम में सहयोग रखते हैं, फिर भी कभी २ वे परस्पर घातक युद्धों में भिड़ते भी देखे जाते हैं। तीसरे वर्ग में, भ्रातृत्वभाव और अधिक है तथा विरोध और हिंसा पहले की

[illegible] रहती है। चौथे वर्ग में भ्रातृत्वभाव और सम-भाव [illegible] मुखरित होता है और इसकी अभिव्यक्ति में वैविध्य, [illegible] और स्नेह अधिक होता है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि सामाजिक व्यवहार का विकास पशुओं के मूढ़ स्वार्थियता से लेकर मनुष्य की सुविकसित सामाजिकता तक हुआ है, बीच के दो वर्ग क्रमशः पहले और दूसरे की विशेषताओं को अपनाते हुये एक या दूसरे के निकट हैं।

अवतारवाद

अवतारवाद परिवर्तन के प्रश्न को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से निभाता है। उसके अनुसार चेतन जड़ से उत्कृष्ट है; अतः जड़ में आवृत होकर चेतन का विभिन्न रूप ग्रहण करना चेतन की दृष्टि से नीचे उतरना है—अवतरण है। अतः जिस परिवर्तन को सामान्यतः विकास कहा जाता है, वह ह्रास चाहे न हो, परन्तु अवतरण अवश्य है। भागवतपुराण में, अवतारों के प्रारम्भ के विषय में इस प्रकार लिखा है— "सृष्टि के आदि में भगवान् ने लोकों के निर्माण की इच्छा की। इच्छा होते ही उन्होंने महत्तत्व आदि से निष्पन्न पुरुष रूप ग्रहण किया। उसमें दस इन्द्रियाँ, एक मन और पाँच भूत—ये सोलह कलाएँ थीं। उन्होंने कारणजल में शयन करते हुये जब योगनिद्रा का विस्तार किया, तब उनके नाभि-सरोवर से एक कमल प्रकट हुआ और और उस कमल से प्रजापतियों के अधिपति ब्रह्माजी उत्पन्न हुये।

भगवान् के उस विराट् रूप के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में ही समस्त लोकों की कल्पना की गई है ; वह भगवान् का विशुद्ध सत्त्वमय श्रेष्ठ रूप है ; योगीलोग दिव्यदृष्टि से भगवान् के उस विराट् रूप का दर्शन करते हैं । भगवान् का यह रूप हजारों पैर, जाँघें, भुजाएँ और मुखों के कारण अत्यन्त विलक्षण है ; उसमें सहस्रों सिर, हजारों कान, हजारों नासिकाएँ हैं । भगवान् का यही पुरुषरूप, जिसे नारायण कहते हैं, अनेक अवतारों का अक्षय कोष है, जिसके अंशों से ही देवता, पशु, पक्षी, मनुष्यादि की सृष्टि होती है ।"[1]

इस वर्णन में ध्यान देने की बात यह है कि अवतार ग्रहण करने वाला भगवान् का विराट रूप एक ओर तो भगवद्गीता के विराट रूप से तथा दूसरी ओर पुरुष सूक्त के पुरुष के रूप से मिलता है। दूसरे, इस रूप में वह स्वयं ब्रह्मा और नारायण है ।[2] यहाँ स्मरणीय यह है कि पुरुष-सूक्त का देवता और ऋषि भी नारायण है और वहाँ भी पुरुष से प्रायः इसी प्रकार की नानारूपात्मक सृष्टि का विकास या अवतार बतलाया गया है । इस दृष्टि से सारी सृष्टि ही भगवान का अवतार है, चाहे उनके क्षुद्रातिक्षुद्र अंश का ही अवतार क्यों न हो ।

---

(१) गीता प्रेस सं०

(२) तु० क० वा० पु० ६, ३; ३, ३८, ७, ६३-५; ७; ६९-७१; ५, ३८ , ४२,

परन्तु, अवतारों के विषय में एक दृष्टि और भी है। इसके अनुसार जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होती तभी भगवान स्वयं धर्म की स्थापना के लिये अवतार लेते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में यही कहा गया है और ऊपर १४ मन्वन्तरों में से प्रत्येक में जो अवतार बतलाये गये हैं उनके चरित से भी इसी मत की पुष्टि होती है। यही मत अन्यत्र २२ या २४ अवतारों के चरितों की पृष्ठ भूमि में दिखाई पड़ता है। यहां संक्षेप में उनका परिचय करा देना आवश्यक है:—

"उन्हीं ने पहले कौमार सर्ग में स्थित होकर (सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार के रूप में) अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया। दूसरी बार इस संसार के कल्याण के लिये समस्त यज्ञों के स्वामी उन भगवान् ने ही रसातल में गई हुई पृथ्वी को निकाल लाने के विचार से सूकर रूप ग्रहण किया। ऋषियों की सृष्टि में उन्होंने देवर्षि नारद के रूप में तीसरा अवतार ग्रहण किया और सात्वत तन्त्रका उपदेश किया; उसमें कर्मों के द्वारा किस प्रकार कर्म-बन्धन से मुक्ति मिलती है, इसका वर्णन मिलता है। चौथीवार धर्म कला सर्ग में उन्होंने नर-नारायण ऋषियों के रूप में आत्मसंयमयुक्त कठिन तप किया। पांचवें अवतार में वे सिद्धों के स्वामी कपिल के रूप में प्रकट हुये और तत्त्वों का निर्णय करने वाले सांख्यशास्त्र का आसुरि को उपदेश

किया। अनुसूया के वर मांगने पर छठे अवतार में वे अत्रि की संतान दत्तात्रेय हुये। इस अवतार में उन्होंने अलर्क एवं प्रह्लाद आदि को ब्रह्मज्ञान दिया। सातवीं बार रुचि प्रजापति की आकूति नामक पत्नी से यज्ञ के रूप में उन्होंने अवतार ग्रहण किया और अपने पुत्र याम आदि देवताओं के साथ स्वायम्भुव मन्वन्तर की रक्षा की। राजा नाभि की पत्नी मरुदेवी के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवाँ अवतार ग्रहण किया। इस रूप में उन्होंने धीरों का वह मार्ग जो सभी आश्रमियों के लिये वन्दनीय है, दिखाया। ऋषियों की प्रार्थना से नवीं बार वे राजा पृथु के रूप में अवतीर्ण हुये। इस अवतार में उन्होंने पृथ्वी से समस्त ओषधियों का दोहन किया। चाक्षुष मन्वन्तर के अन्त में जब सारी त्रिलोकी समुद्र में डूब रही थी, तब उन्होंने मत्स्य के रूप में दसवाँ अवतार ग्रहण किया और पृथिवीमयी नौका पर बैठाकर वैवस्वत मनु की रक्षा की थी। जिस समय देवता और दैत्य समुद्र का मन्थन कर रहे थे, उस समय ग्यारहवां अवतार धारण करके कच्छपरूप से भगवान ने मन्दराचल को अपनी पीठपर धारण किया। बारहवीं बार धन्वन्तरि के रूप में अमृत लेकर समुद्र से प्रकट हुए और तेरहवीं बार मोहिनी रूप धारण करके दैत्यों को मोहित करके देवताओं को अमृत पिलाया। चौदहवें अवतार में उन्होंने नरसिंह रूप धारण किया और अत्यंत बलवान् दैत्यराज हिरण्यकशिपु की छाती को अपने नखों से अनायास इस प्रकार फाड़ डाला जिस प्रकार खटिक

शरीर को फाड़ डालता है। पंद्रहवीं बार वामन रूप धारण करके भगवान् दैत्यराज बलि के यज्ञ में गये और उनसे तीन पग पृथ्वी माँगी। सोलहवें परशुराम अवतार में उन्होंने ब्रह्मद्रोही राजाओं को देखकर पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रियरहित किया। सत्रहवें अवतार में सत्यवती के गर्भ से वे पराशरजी के द्वारा व्यास के रूप में अवतीर्ण हुये। उस समय उन्होंने पुरुषों को अल्पमति हुआ जानकर वेदरूपी वृक्ष की कई शाखायें करदीं। अठारवीं बार देवताओं का कार्य सम्पन्न करने की इच्छा से उन्होंने राजा के रूप में रामावतार ग्रहण किया और सेतु बन्धन आदि वीरतापूर्ण कार्य किये। उन्नीसवें और बीसवें अवतार में उन्होंने यदुवंश में बलराम और कृष्ण के रूप में पृथ्वी के भार को उतारा। इसके बाद कलियुग आ जाने पर मगध में देवद्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिये अजन के पुत्र के रूप में बुद्धावतार होगा। इसके बहुत पीछे जब कलियुग का अन्त समीप होगा और राजालोग प्रायः लुटेरे हो जायेंगे, तब जगत् के रक्षक भगवान् विष्णुयश के घर कल्कि रूप में अवतीर्ण होंगे।"

अतः ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ एक दृष्टि से महत्तत्वादि के द्वारा रचित स्थूल रूप में व्यक्त होना[1] भगवान् का अवतरण समझा जाता था वहाँ इसी रूप में ही प्रकट होकर उनके द्वारा स्थूल-सृष्टि की कल्याण-सिद्धि भी होती

१—भा० १, ३, ३०-३१

हुई मानी जाती थी। इसीलिये कहा गया है कि "जैसे अगाध सरोवर से हजारों छोटे-छोटे नाले निकलते हैं, वैसे ही सत्वनिधि भगवान् श्री हरि के असंख्य अवतार हुआ करते हैं। ऋषि, मनु, देवता, प्रजापति, मनुपुत्र और शक्तिशाली पुरुष भगवान् के ही कलावतार हैं। जब दैत्यों के कारण लोक व्याकुल हो उठता है, तो प्रत्येक युग में भगवान् अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं।" इसके साथ ही ध्यान देने की एक बात यह है कि ये अवतार देवों, ऋषियों या भक्तों की प्रार्थना करने पर होते हैं—प्रायः सामूहिक प्रार्थनाओं पर, यद्यपि वैयक्तिक प्रार्थनायें भी की जाती हैं। आर्तों की इन सामूहिक प्रार्थनाओं के साथ ही, यदि हम इस बात पर विचार करें कि अवतार लेने वाले भगवान नारायण है जो सहस्राक्ष सहस्रपाद आदि होने से विराट रूप हैं. तो हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते है कि एक दृष्टि से अवतार को सामूहिक चेतना की अभिव्यक्ति भी समझा जाता था जो सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये परिस्थितियों के कारण किसी युग-विशेष में आवश्यक हो जाया करती है। यहीं पर बस अवतारवाद का समाजशास्त्रीय उपयोग है। इस प्रसंग में यह याद रखना आवश्यक है कि पुराणों की शैली वेदों की भाँति ही अत्यंत प्रतीकात्मक है और उसमें इतिहास के साथ रूपक का समावेश इतना अधिक हो गया है कि उसके वर्णनों में—सब से अधिक अवतारों के विषय में—भ्रमात्मक बातें आजाना स्वाभाविक हो जाता है। अतः इन वर्णनों को समझने के लिये

आवश्यक है कि केवल मूलभूत सिद्धान्तों और तथ्यों को ही पकड़ने का प्रयत्न किया जाय और उनके नानारूपात्मक बाह्य आवरणों के पीछे पड़कर व्यर्थ की उलझन में न पड़ा जाय।

एक समाजशास्त्रीय दृष्टि से दश अवतारों का विवेचन अधिक उपयोगी प्रतीत होता है। अतः यहाँ उनका संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

दश अवतारों में से मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन रामभार्गव और कृष्ण के नाम वैदिक पुस्तकों[1] में ही आचुके हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि पौराणिक अवतारों की कल्पना वैदिक कल्पना का ही विकसित रूप है। डा० भगवानदास[2] जी के अनुसार पुराण नृवर्गविज्ञान (Anthropology) की पुस्तकें हैं और उनका विषय परंपरा के अनुसार इस प्रकार[3] है—
(१) अशरीरीय विकास (सर्ग Inorganic evolution)
(२) शरीरीय विकास (प्रतिसर्ग inorganic evolution)
(३) मनुष्य जाति की शक्तियों का विकास (४) मनुष्यों के वंश तथा (५) प्रलय। अतः इस दृष्टि से पुराणों को एक प्रकार के विकासवाद के ही ग्रंथ माना जा सकता है।

---

(१) श० ब्रा० १, ८, १, २—१० ; तै० आ० १, २, ३, १ ; श० ब्रा० १, ४, ३, ५ ; तै० सं० ७, १, ५; तै० ब्रा० १, १, ३, ५; श० ब्रा० १४, १; २ ११; ऋ० वे० १; १७, श० ब्रा० १, १, २, ५, १७; छा० उ० ३, १७; तै० आ० १०, १, १६।
(२) कृष्ण, ३, ५।
(३) यह उनके अनुसार निम्नलिखित का अर्थ है:— सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणिच। वंशानुचरितंच पुराणं पंच लक्षणम्।

दश अवतारों के नाम पुराणों में प्रायः इस प्रकार आये हैं—(१) मत्स्य (२) कूर्म (३) वराह (४) नरसिंह (५) वामन (६) राम (७) परशुराम (८) कृष्ण (६) बुद्ध और (१०) कल्कि :—

मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नरसिंहश्च वामनः ।
रामो रामश्च कृष्णश्च बुद्धः कल्किश्च ते दशः ॥

डा० भगवानदास के शब्दों में "मत्स्य, कूर्म, वराह और नरसिंह को एक दृष्टि से क्रमशः जलचर, भूसर, स्तनपायी नृवर्ग और मनुष्य के विकास के पौराणिक रूपक माने जा सकते हैं।" महाभारत (१२, ३४६, ३७) में वामन को मनुष्य से एक भिन्न अवतार माना गया है (वाराहं नारसिंहं च वामन मानुषं तथा) अतः हम सब अवतारों को दो वर्गों में में विभक्त कर सकते हैं—(१) असामाजिक अवतार, जिनमें मत्स्य, कूर्म, वाराह, नरसिंह और वामन की गणना की जा सकती है, और (२) सामाजिक अवतार, जिसमें राम भार्गव, राम दाशरथि, कृष्ण, और कल्कि आते हैं। इन वर्गों में से प्रथम के मत्स्य और कूर्म को आत्मवाद मत के पशु वर्ग में. वराह को तृणाद तथा मृग वर्गों के समकक्ष मान सकते है; और आत्मवर्ग के अन्तर्गत नरसिंह और वामन को ले सकते हैं। यह भी संभव है कि आत्मवादी पशुवर्ग की भाँति, अवतारवादी कूर्म के अन्तर्गत पक्षी भी आते हों। परन्तु शान्तिपर्व में हंस को भी एक अवतार माना गया है और द्वितीय वर्ग में से बुद्ध को

...किया गया है ; सम्भवतः यह परिवर्तन पक्षियों को ... सम्मिलित करने के लिये ही किया गया हो। कुछ भी हो, यह ... कहा जा सकता है कि अवतारों में पक्षियों का भी समावेश ... था और अवतारों का प्रथमवर्ग प्रायः आत्मवादियों की भाँति पशु-जगत् के विकास को ही दृष्टि में रखकर ही रक्खा गया प्रतीत होता है।

अब दूसरे वर्ग को लीजिये। यह मानुषवर्ग संभवतः सभ्य मनुष्य के सामाजिक विकास का परिचायक है। सभ्य मानव की प्रथम अवस्था के प्रतीक हैं राम भार्गव या परशुराम। उनका ... अन्न, असहिष्णु क्रोधी और अनुदार स्वभाव उनकी युद्धप्रियता, मातृ-द्रोह और पितृ-भक्ति तथा इधर-उधर भटकना—ये सब बातें उन्हें सभ्य मानव का प्रतीक बनाने में सहायक हो सकती हैं। वे उस खानाबदोशी मोहरे (Nomad persona) के प्रतिनिधि हैं जिसकी उत्पत्ति वृक्षारोही मनुष्य (arboreal man) से हुई है जो पारस्परिक व्यवहार के लिये उसी नीति का अवलंबन करता था जो कि एक बैल और बैल अथवा एक कुत्ते और कुत्ते के बीच पाई जाती है। उस समय 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' की कहावत चरितार्थ होती थी ; मत्स्य-न्याय का ही एक नियम था। यही बात सहस्रबाहु द्वारा जमदग्नि की संपत्ति अपहरण किये जाने में देखी जा सकती है।

सभ्यता के विकास में दूसरी अवस्था के प्रतीक राम दाशरथि हैं, जिनका धनुषबाण लेकर वन-वन भटकना उन्हें

'खानाबदोशी मोहरे' (Nomad persona) का ही एक विकसित रूप प्रकट करता है। यदि हम राम को, आदर्शवाद पृथक करके देखें, तो हमें पता चलेगा कि वे उस अवस्था के प्रतीक हैं जब मनुष्य ने परशु की अपेक्षा और अधिक सफल शस्त्रों (धनुष-बाण) का आविष्कार कर लिया था, आंशिक रूप में स्थिरगृह-निवास अपना लिया था, और वह स्त्रियों, देवताओं और धार्मिक प्रथाओं के लिये युद्ध करता था। इस अवस्था की सभ्यता का और अधिक चित्र हमें राम-कथा के राक्षसों के जीवन में मिलता है जिनका प्रमुख कार्य जंगल में घूमना और और न केवल पशु-पक्षियों को अपितु मनुष्य को भी खाना था और जो स्त्री-पुरुष संबन्धी निषेध-नियमों को कोई महत्त्व न देते थे (तु० क० सूपणखा, रावण इत्यादि)

इस 'खानाबदोशी मोहरे' की तुलना यहाँ पर एच. जी वेल्स द्वारा किये वर्णन से भी की जा सकती है। उन्होंने यूंग का अनुसरण करते हुये 'खानाबदोश मोहरे' को दो भागों में बाँटा है—(१) अतिचारी खानाबदोश और (२) खानाबदोश। इस मोहरे का सामान्य वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

The herdsman gathered in strength and raided for keeps. Fundamentally he despises work. His spirit towards property is 'easy come and easy go'. Not to get easily and give freely reflects upon his force and vigour. His love is

... romantic, personal and not nearly so prolific as that of the cultivator in constant need of "hands for the soil'. He gambles and he does it with pride and elegance. Waste is a glory to him. He is, and in his person, he knows himself to be a fine reckless desperate fellow."

खानाबदोशी मोहरे के बाद 'कृषक मोहरा' आता है। इसके प्रतीक प्रथम तो हल धारण करने वाले बलराम (जो एक अवतार भी माने गये हैं) और दूसरे हैं कृष्ण जो संभवतः कृष धातु से बने हुये कृषक शब्द का ही पर्यायवाची है। बलराम में पूर्णतया ही 'कृषक मोहरा' मिलता है—वह क्षिप्र कोप करनेवाले असहिष्णु, स्वीकृत आचार-नीति में तनिक भी शिथिलता न स्वीकृत करने वाले सुरा और सुन्दरी में रुचि रखने वाले, परन्तु साथ ही स्त्री-सम्बन्धी निषेध-नियमों का पूर्णरूपेण पालन करने वाले, सदा ही न्याय, वीरता और स्त्री-सम्मान का पक्ष लेने वाले व्यक्ति हैं। इससे भिन्न कृष्ण का 'कृषक मोहरे' में वही स्थान प्रतीत होता है जो राम का 'खानाबदोश मोहरे' में। कृष्ण आदर्शभूत 'कृषक मोहरे' के प्रतीक हैं। उनके नृत्य और वंशीरव में, उनके संगीत और दर्शन में उनके संधि-प्रयत्न और शस्त्र न ग्रहण करने के प्रण में मानव जीवन के उस वरदान का प्रतीक देखा जा सकता है जो उसे सुस्थिर और शान्त कृषक जीवन प्रदान कर सकता है। स्त्री के अतिरिक्त,

कृषक मोहरे (peasant persona) के लिये आसक्ति की वस्तु है भूमि और पशु जो दुर्योधन के दुराग्रह (भूमि न देने का प्रण) तथा 'विराट के युद्ध' आदि में भली भाँति देखा जा सकता है।

महाभारत के आधार पर निर्मित 'कृषक मोहरे' के इस चित्र की तुलना निम्नलिखित 'साइंस आव लाइफ' के वर्णन से भली भाँति की जा सकती है। कृषक मोहरा उन सुखों पर आश्रित है जो दारुण, जो उकताने वाले और गतानुगतिक हैं। उसे सदा अपने पड़ोसियों की आलोचना का ध्यान रहता है। उसे सदा अपने चरित्र या आत्मसम्मान की चिन्ता रही है। वह केवल कीर्ति के लिये ही जीता है। वह प्रायः भयभीत रहता है—अपने स्वामी से वह डरता है, अपने आस पास के लोगों की सम्मतियों से डरता है, और सब से अधिक वह डरता है पुरोहितों, पंडों और स्वर्ग या नर्क की रहस्यमयी शक्तियों से। शराब का नशा उसमें से दबी हुई पशुता और अहंता प्रकट कर देता है। ईति-भीति के समय उसकी दबी हुई कल्पना अनायास ही अंधविश्वासपूर्ण उत्सवों और आचरणों में व्यक्त हो उठती है। दुखी और विक्षुब्ध किसान प्राचीन हिंसा-यज्ञों (खानाबदोश मोहरों के) से बहुत दूर नहीं है। दमन उसमें ईर्ष्या-द्वेष को भड़काता है। उसका धर्म आदिम है, अंधविश्वास से पूर्ण, आडंबर से रहित, आध्यात्मिकता और सूक्ष्मता से दूर।"

कृषि-युग से मानव-समाज व्यावसायिक युग में जा रहा है और यदि कोई इस समय अवतारों की सूची बनाता, तो संभवतः सामाजिक विकास की इस अवस्था के लिये भी एक अवतार की कल्पना की जाती। फिर भी, व्यवसाय-युग को कृषि-युग का ही एक प्रसरण माना जा सकता है; अतः उसका समावेश कृषि-युग में ही किया जा सकता है।

अतः शेष दो अवतार बुद्ध और कल्कि संभवतः सामाजिक विकास की उस आदर्श अवस्था के द्योतक हैं जिस ओर सभी सामाजिक ढाँचे और प्रणालियाँ गतिशील प्रतीत होती हैं। अतः बुद्ध को उस प्रबुद्ध और 'शिक्षित मोहरे (educated persona) का प्रतीक समझा जा सकता है जो सुख-समृद्धि और भोग-विलास के जीवन में संतोष न प्राप्त करके विशुद्ध आनन्द के लिये तरसता है, सामन्तशाही अधिकार-प्रधान व्यवस्था पर आश्रित, अलौकिक, अतींद्रिय, वैयक्तिक धर्म, दर्शन एवं सदाचार की परंपरा से विद्रोह करता है है और एक ऐसे प्राकृतिक, सामाजिक, यथार्थवादी और लौकिक धर्म, दर्शन एवं सदाचार की सृष्टि का प्रयत्न करता है जो जाति, रंग, और लिंग के भेद से रहित मनुष्य की समानता पर अवलंबित हो। कल्कि इसी मोहरे के आदर्शभूत अन्तिम स्तर का प्रतीक है, जिसमें मनुष्य पूर्ण सामाजिक भावना (Social sense), पूर्ण न्याय भावना तथा पूर्ण प्रेम-भावना हो और सदा 'कल' (सुन्दर) ही करता हो। यह वह अवस्था है जो

सभी युगों और सभी देशों के पंडितों और पैगम्बरों के प्रयत्नों का चरम लक्ष्य रहा है। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी आत्मकथा में लगभग इसी अवस्था की ओर संकेत करते हुये आधुनिक भाषा में कहा है :—" But the west also brings an antidote to the evils of this cutthroat civilization —the principli of socialisn, of Co-operation and of service to the community for the common good. This is not so unlike the old Brahmnic ideal of survice, but it means the Brahmanisation (not in the religious sense, of course) of all classes and groups and the abolition of class distinctions."

आधुनिक समाजशास्त्र के अनुसार, " इस तृतीय और सर्वोत्तम मोहरे, शिक्षित मोहरे, का प्रमुख लक्षण है आत्म-विस्मृति, तल्लीनता। व्यक्ति को प्रत्यक्षतः अपनी निज की समृद्धि या कीर्ति के लिये प्रयत्नशील नहीं समझा जाता। वह एक ऐसी व्यवस्था का अंग बन जाता है जो ऐसे किसी भी वैयक्तिक लोभ या विचार से परे होती है। " इस मोहरे की मूल विशेषता है उसका वह स्वार्थरहित व्यवहार जिसको एच. जी. वेल्स ने " अनासक्ति-भाव की अपरिहार्य कल्पना " कहा है। मानवता के इस सुनहरे आदर्श की प्रतिष्ठा आज के प्रबुद्ध " पंडित-पुरोहित वर्ग (Priestly learned class) में होती हुई मानी

[illegible] है, जिसके विषय में उक्त यशस्वी विद्वान् ने [illegible] है :–

"आओ अब हम आत्म-भावनाओं, मोहरों और परंपराओं की एक तृतीय पद्धति पर विचार करें। समाज की प्रारंभिक अवस्थाओं में इसका प्रतिनिधि था पुरोहित (Priest)। प्रारंभ से ही पुरोहित एक ऐसे मोहरे का प्रतिनिधि रहा है जो एक ओर तो कृषक की कुटुम्ब कल्पना (family idea) एवं वित्तैषणा से दूर है और दूसरी ओर वैभवशालियों की अहंता एवं स्वामि-भावना से अलग। प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से यह महत्त्व पूर्ण बात है कि सामान्यतः यह पुरोहित वर्ग संतानोत्पत्ति से दूर रहा है। अतः 'पुरोहित मोहरे' (Priestly persona) के लक्षण वंशानुक्रम से आगे नहीं* चले। ये लक्षण एक शिक्षण-विशेष और संकेतों की एक पद्धति-विशेष से उत्पन्न होते हैं। यह आवश्यक नहीं कि किसी 'शिक्षित मेधावी वर्ग' की नस्ल बढ़ाई जाये। इस दिशा में एक मात्र प्रयोग है भारतीय ब्राह्मण वर्ग, परन्तु उसमें भी कोई विशिष्ट बौद्धिक श्रेष्ठता दृष्टि-गोचर नहीं होती। सारे ईसाई जगत् में सामन्त, सौदागर और किसान सभी ने पौरोहित्य-स्तर के निर्माण में अपना अपना योग दिया है।" भारतवर्ष में भी बौद्धिक व्यवसाय किसी वर्ग-विशेष का विशेषाधिकार नहीं रहा है, अपितु विश्वामित्र, जनक, कृष्ण,

---

*यह बात योरोप के लिये ही अधिक लागू होती है; भारतवर्ष में यह केवल जैन और बौद्ध संप्रदायों तक ही सीमित रही।

बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रियों और अनेक वैश्य एवं शूद्र वर्ग में उत्पन्न संतों ने भी राष्ट्र की बौद्धिक सिद्धियों में योग दिया है, यद्यपि यह संदेह नहीं कि उसमें सब से अधिक भाग ब्राह्मणों के निःस्वार्थसेवी वर्ग का है जिन्होंने अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य 'ज्ञान'—संपूर्ण जगत् को आलोकिक करने के हेतु ज्ञान— को ही माना है।

सामान्यतः पश्चिम में 'प्रीस्ट' (Priest) और भारत में 'ब्राह्मण' शब्द का रूढ़ि-वादिता, गपोड़पंथ और अंध-विश्वास से संबद्ध तथा राष्ट्रीयता एवं प्रगति का विरोधी माना जाता है, परन्तु आधुनिक समाजशास्त्र, संरक्षण और सृजन, रूढ़ि और प्रगति के जिन सिद्धान्तों को किसी भी समाज की निरतर उन्नति के लिये अनिवार्य्य मानता है। इनमें से प्रत्येक का इस वग से गहरा संबन्ध है— भारत का सारा दर्शन, कला और साहित्य तथा भारतीय संस्कृति के प्रत्येक अंग का उद्भव और विकास इसी वर्ग से संबन्ध रखता है। पश्चिम के प्रीस्ट (Priest) वर्ग के विषय में वेल्स का कहना है कि—"उदारपक्ष पौरोहित्यकर्म (Priestcraft) को बिल्कुल दूषित ही मानता है, परन्तु फिर भी अतीत के प्रगतिशील एवं क्रांतिकारी स्वतंत्र प्रकृत्तियों का जन्म पुरोहितों (प्रीस्टों) से ही हुआ है। यह बात सच है कि सिद्धांततः पुरोहित्त परंपरा का अक्षुण्ण संरक्षक रहा है, परन्तु यह भी सच है कि जब भी कभी परंपरा के विरुद्ध विरोध या विद्रोह हुआ है तो उसके नेता भी पुरोहित

के विद्वान क्लर्क ही हुये हैं। रोजर बेकन जैसा आधुनिकता का अग्रदूत एक पुरोहित (प्रीस्ट) ही था। हस, वाइक्लिफ, लूथर, काल्विन और नॉक्स सबके सब विद्रोही प्रीस्ट थे; प्रजननशास्त्र (genetics) का संस्थापक मेंडल एक प्रीस्ट था और बड़ी मनोरंजक बात यह है कि नृवंशविज्ञान (Anthropology) जैसी सर्वश्रेष्ठ क्रांतिकारी विज्ञान के अनेक प्रणेता भी प्रीस्ट ही थे— कार्लमार्क्स भी विश्वविद्यालय से निकला हुआ एक डाक्टर था।

"वस्तुतः मनुष्य-जाति का सारा बौद्धिक विकास पंडिताऊ लेखक परंपरा द्वारा ही हुआ है। कृषक मोहरों से मिलने वाली मानव-प्रतिभा की देन तुलना में बहुत थोड़ी है। शेक्सपियर और बर्न्स जैसे बिरले लब्धप्रतिष्ठ मेधावी अवश्य हुये हैं, परन्तु वे भी विवेचक या आविष्कारक न होकर अभिव्यञ्जक ही अधिक हुये हैं। वैभवशील वर्ग की देन अधिक है, परन्तु इतनी अधिक नहीं है, क्योंकि उसकी सर्वोत्तम देन, सत्य-भाषण का अभिमान और स्वामिभक्ति एवं वीरता भी, पुरोहित वर्ग के आदर्श की ही पुनरुक्ति मात्र है। पुरोहितों ने ही पांडित्य को सुरक्षित रक्खा है और पांडित्यपूर्ण क्षेत्रों में ही आलोचन एवं विवेचन की ज्योति जागती रही।"

फिर भी आत्मोत्सर्ग और आत्म संयम के जो तत्त्व इस शिक्षित मोहरे में प्राप्त होते हैं वे केवल पुरोहित-वर्ग की ही विशेषता नहीं हैं, क्योंकि वे तो वस्तुतः एक जीवन-विधि के आदर्श के

तत्त्व हैं जिनका शिक्षा के विस्तार के साथ अधिकाधिक समाजीकरण हुआ है। प्राचीन भारत में तो यह समाजीकरण और भी अधिक पहले ही हो चुका था। अतः इस पुरोहिती मोहरे या शिक्षित मोहरे के अन्तर्गत केवल पुरोहितों, पंडों और धार्मिक नेताओं को ही केवल सम्मिलित न करके लेखकों, पत्रकारों, डॉक्टरों वैद्यों जजों वकीलों, प्रशासकों, व्यावसायिक विशेषज्ञों और वैज्ञानिकों के उस जगत् को भी सम्मिलित करना चाहिये जिनमें आंशिक या पूर्ण रूप से अनासक्ति-युक्त प्रयत्न निरंतर पाया जाता है। इन सभी में कुछ ऐसे विशिष्ट लक्षण मिलेंगे जो इनको एक ओर तो उस शहराती सौदागर वर्ग से पृथक करते हैं जो निन्यानवें के फेर में पड़ा हुआ अधिकाधिक बटोरने की धुन में है और दूसरी ओर उन वैभवशालियों, डाकुओं तथा अन्य वर्गों से पृथक करते हैं जो सामाजिक शोषण में दत्तचित्त हैं।

अस्तु, जिसको यहां 'शिक्षित पुरोहित मोहरा' कहा गया है वह वस्तुतः वही ब्राह्मणत्व है जिसका वर्णन पहले हो चुका है। बुद्ध या कल्कि का वास्तविक अवतार तभी हो सकता है जब इस मोहरे की विशेषता ब्राह्मणत्व किसी व्यक्ति विशेष या वर्ग-विशेष की वस्तु न रह कर सारे समाज की वस्तु हो जाय। आज की समाज-व्यवस्था को स्थिर रखने वाला मुख्य हेतु यही है कि समाज ने कम से कम आंशिक रूप में इस मोहरे को स्वीकार कर रक्खा है। पुरोहित वर्ग की शिक्षित परंपरा में जो त्याग और लगन की विशेषता है वह सभ्यता की प्रगति के लिये

नितान्त, आवश्यक है। आज समाज के जिन अंगों—जजों, डाक्टरों, शिक्षकों, लेखकों और अफसरों—ने कुछ थोड़ा बहुत भी इस मोहरे को अपना रक्खा है उनके बिना क्या भला समाज व्यवस्था के चलते रहने की भी कल्पना की जा सकती है। इन लोगों की विश्वसनीयता और कार्यपटुता, जो समाज का आधार है, इस कारण बनी हुई है कि वे इसी मोहरे में दीक्षित हुये हैं। कृषक, सौदागर, महाजन आदि प्रायः परंपरागत पेशे को ग्रहण करने वाले हैं, जब कि ये लोग 'बनाये' जाते हैं, शिक्षा-दीक्षा द्वारा गढ़े जाते हैं, अन्य मोहरों में जो उद्देश्य और आदर्श बीज-रूप में सुप्त रह जाते हैं इन्हीं को उखाड़ कर ऐसे गुण उत्पन्न किये जाते हैं जिनसे कि व्यक्ति उक्त मोहरे में ढाल दिये जाते हैं।

(६) भारतीय विकासवाद और क्रान्ति-क्रम

(१) भारतीय विकासवाद

ऊपर जिन मतों का उल्लेख किया गया है, उनसे यह स्पष्ट है कि भारतीय विचारधारा में भी विकासवाद की कोई कल्पना थी। उत्क्रमण, निक्रमण, पुरुषवाद आदि के सिद्धान्तों में हम देख चुके हैं कि विकास की जो कल्पना है वह नित्य-विकास की कल्पना है—किसी चेतन से शक्ति उठती है और नानारूपात्मक जगत् में परिणत हो जाती है। ऐतिहासिक मत के आगमन से भौतिक दृष्टिकोण का भी समावेश हो जाता है, जिसके फलस्वरूप पशु-जगत् से मनुष्य-जगत का विकास माना जाता है। आत्मवाद उक्त मत में निहित भौतिकता के भय का निराकरण करने के लिये मानव शरीर से अधिक मानवता पर जोर देता है और उसके सामाजिक व्यवहार के विकास का विवेचन करता है।

सामाजिक व्यवहार का विकास प्रति-योग (antithesis) से यांत्रिक संश्लेषण (mechanical Solidarity) यांत्रिक संश्लेषण से मानव समाज के शरीरीय संश्लेषण (organic Solidarily) की ओर हुआ है। आत्मवाद इस विकास के कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी बतलाता है। उसके अनुसार सामाजिक व्यवहार के इस व्यवहार का कारण यह है कि

पशुओं में बुद्धि का विकास विवेकरहित असहिष्णुता (Indiscriminate inconsiderateness) से अतिविकसित सहिष्णुता की ओर हुआ है। अतः अवतारवाद ने भी इस दृष्टिकोण को किसी हद तक अपनाया है। आत्मवाद के चार वर्णों के समकक्ष प्रथम पाँच अवतारों की कल्पना की गई है; परन्तु यह मत आत्मवाद से और आगे जाता है। आत्मवाद के चार वर्णों में जो सामाजिक व्यवहार विकसित होता है, उसमें कभी भी पूर्ण निःस्वार्थ-भावना का विकास होने की कल्पना नहीं है; परन्तु अवतारवाद के अनुसार पशुओं से मनुष्य को प्राप्त होने वाले श्रेष्ठतम सामाजिक व्यवहार में भी पूर्ण निःस्वार्थता नहीं आ पाती; अतः वह उसको 'वामन' ('कुटिल, टेढ़ा) के रूप में ही कल्पित करता है। अवतारवाद वस्तुतः मानवीय सामाजिक व्यवहार का विकास दिखाने के लिये पाँच अन्य अवतारों की कल्पना करता है, जिसमें वह 'खानबदोश मोहरे' से कृषक मोहरे, और उससे शिक्षित मोहरे की ओर होता है—दूसरे शब्दों में, उसका विकास हिंसापूर्ण स्वार्थपरता (violont selfenclosdness) से अर्द्ध-हिंसापूर्ण स्वार्थपरता और उससे अहिंसा, अनासक्ति एवं आत्मोत्सर्ग की ओर हुआ है; परशुराम से बुद्ध या कल्कि की ओर हो रहा है।

अवतारों की कल्पना से संबद्ध यदि हम आदर्शवाद और इतिहास को जोड़ दें, तो प्रत्येक अवतार किसी युग-विशेष में

परम चेतन की एक अभिव्यक्ति मात्र है, नारायण का एक स्वरूप विशेष है जो तत्कालीन परिस्थितियों की एक परम आवश्यकता के रूप में है। सामाजिक व्यवहार में जिस परिवर्तन की बातचीत ऊपर हो चुकी है वह वस्तुतः सामाजिक क्रिया (Social function) में मूर्तिमान होता है—किसी भी युग में जो सामाजिक क्रिया होती है उसी में उस युग का सामाजिक उद्देश्य (Social purpose) अपने को व्यक्त करता है और नारायण के स्वरूप (अवतार) को निश्चित करता है। अतएव राम, कृष्ण और बुद्ध आदि वस्तुतः किसी न किसी युग-विशेष की परिस्थितियों में व्यक्त उसी विराट सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति के प्रतीक है, उस युग-विशेष में नारायण के अवतार हैं। दूसरे शब्दों में, यह भी कहा जा सकता है कि सारी सामाजिक क्रिया के रूप में जो एक व्यापक सामाजिक श्रम-यज्ञ चल रहा है वह वस्तुतः उसी सर्वत्रव्याप्त (विष्णु) विराट पुरुष (नारायण) की ही नानारूपात्मक अभिव्यक्ति है; नारायण ही इस यज्ञ का यज्ञ-पुरुष है। अतएव विभिन्न अवतार वस्तुतः इसी यज्ञ-पुरुष के ही रूपांतर है। इस प्रकार अवतारवाद में पुरुषवाद आदि आध्यात्मिक मतों का भी समावेश हो गया है और साथ ही भौतिक मतों के सार को भी नहीं छोड़ा गया है। अतः भारतीय विकासवाद आधुनिक विकासवाद के भौतिक विकास को मानता हुआ भी, उसके विपरीत आध्यात्मिक दृष्टिकोण एवं आस्तिक्यभाव को मानता हुआ चलता है। भारतीय संस्कृति के क्रांति-क्रम में भी इस दृष्टिकोण का उत्तरोत्तर विकास देखा जा सकता है।

(८) भारतीय संस्कृति का क्रान्ति-क्रम

भारतीय संस्कृति के विकास का आधार यही विकासवाद है—आध्यात्मिक एवं भौतिकता का समन्वय करनेवाला विकासवाद है। इसी से प्रेरित होकर भारतीय सामाजिक चेतना ने जड़ और चेतन को समुचित स्थान दिया है और दोनों को साधन एवं साध्य के रूप में ग्रहण करके अपनी सामाजिक क्रिया को मूर्त रूप देकर विभिन्न युगों में अध्यात्म-प्रधान संस्कृति की धारा बहाई है। इस धारा को रोकने वाले अनेक विघ्न उपस्थित हुये, और उन्होंने यदा-कदा उसकी दिशा भी बदलनी चाही, परन्तु भारतीय समाज ने जिस युक्ति और शक्ति के साथ उनका सामना किया और जिस प्रकार अपनी संस्कृति की मूल-भावना को अक्षुण्ण रक्खा है वह बड़ी मनोरंजक कहानी है।

सत्य और अहिंसा पर आश्रित वैदिक समाज-व्यवस्था को जब तथाकथित 'देवपुत्रों' ने अपने 'वेदवाद' द्वारा, हीन, क्षीण एवं कलुषित कर डाला, तो 'बार्हस्पत्यों', राजपुत्रों' तथा 'गोपुत्रों' ने अपने अपने ढंग से उसे पुनः साधु और सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया; उपनिषद्, तथा भगवद्गीता जैसे ग्रंथों और चारवाक, जैन तथा बौद्ध मतों में इसी का समावेश है। इन प्रयत्नों को जिन समाज-विरोधी प्रवृत्तियों का सामना करना पड़ा और जिन उलझनों को सुलझाना पड़ा, उनके कारण मुख्यतः इसी भूमि की उपज थे; यदि कभी किन्हीं बाह्य

कारणों का इन पर प्रभाव पड़ा भी, तो वे किसी बाहरी आक्रान्ता या साम्राज्यवादी शक्ति के पददलन या शोषण का परिणाम न थे। अतः उस समय केवल एक ही मूल-समस्या थी और वह यह कि विरोधी या बाहरी प्रवृत्तियों को राष्ट्रीय संस्कृति के प्रवाह में किस प्रकार लिया जाय।

नई समस्या

परन्तु, एक समय आया, जब विश्व की परिस्थतियाँ बदलीं और विभिन्न देशों में अतिचारी राष्ट्रीयता ने शिर उठाया; एक देश की सेना दूसरे देश पर आक्रमण करने लगी। भारत पर भी यूनानियों हूणों, शकों आदि के आक्रमण हुये। इन आक्रमणों ने भारत के लिये कोई महती सांस्कृतिक समस्या उपस्थित नहीं की; वे तो केवल एक राजनीतिक समस्या के रूप में प्रकट हुये, जिसको सुलझाने में इस देश के चाणक्यों तथा विक्रमों को देर न लगी। एक युग ऐसा भी आया, जब आक्रान्ता केवल लूट-पाट या विजय-कामना से प्रेरित होकर ही आक्रमण नहीं करते थे, अपितु विजित जाति पर अपनी संस्कृति थोपना भी उनका उद्देश्य होता था।

भारत ने देखा कि अरब के रेगिस्तान से एक भीषण आंधी उठी, जिसने बात की बात में, मिश्र, सिरिया, काथज और अफ्रीका को आक्रान्त कर लिया। बोखारा, खोजन्द, समरकन्द तथा फरगाना पर भी उसका प्रकोप हुआ और

देशों के निवासियों को झुकने पर बाध्य किया। बहुतेरे अपने धर्म को छोड़कर झुक गये, जो न झुके उन्हें भागकर भारत की शरण आना पड़ा। सन् ६३६–३७ ई० में समुद्रीय मार्ग से और ६४३–४४ ई० में स्थल-मार्ग से भारत-भूमि को भी इसने संस्पर्श किया। इस आँधी को देखकर, उससे उत्पन्न चीत्कार को सुनकर तथा उसके भयङ्कर स्पर्श को अनुभव कर भारत का मस्तिष्क काँप उठा—इस लिये नहीं कि उसमें पर्याप्त बल नहीं था, अपितु इस लिये कि वह कुंठित हो रहा था और उसके शरीर के टुकड़े-टुकड़े हो रहे थे। आँधियाँ पहले भी आई थीं, परन्तु वे केवल राजनीतिक या आर्थिक आँधियाँ थीं, जिसके नायक या तो लूट-पाट करके या किसी प्रदेश पर शासनाधिकार पाकर अपनी लिप्सा को शान्त कर निज को भारतीयता के रंग में रंग लेते थे। परन्तु, यह आंधी केवल आर्थिक या राजनीतिक ही न थी, इसके नायकों की अर्थ-लिप्सा तथा राज्य-लिप्सा को बल देने वाली थी उनकी निज 'संस्कृति' को फैलाने की प्रबल इच्छा। इस परिवर्त्तन से भारत के सामने आत्मरक्षा की जो समस्या उत्पन्न हुई, वह लगभग पूर्णतया नई थी।

अरबों की विजय

इस महान् राष्ट्रीय संकट की आशंका से अवसन्न भारत ने कुछ प्रतिकार भी न सोच पाया था कि ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरबों ने देवल, नेरून आदि राज्यों

को जीतकर सिन्धु को पार किया और असीम वीरता एवं बलिदान के होते हुये भी, सारे सिन्धु देश को, विदेशियों से पादाक्रांत होकर, दासता की शृंखला में बँधना पड़ा। पग-पग पर देशद्रोह, विश्वासघात तथा स्वार्थांधता के उदाहरणों से प्रकट होगया कि देश में पारस्परिक कलह ने बुरी तरह घर कर रक्खा है और राजनीतिक राष्ट्रीयता, देशभक्ति या धर्मान्धता जैसी ऐसी कोई भी बात नहीं है, जो भारतीयों को एक सूत्र में बाँधकर उन्हें सुसंगठित, धर्मान्ध एवं विजयोन्मत्त विदेशियों के सामने खड़ा कर सके। रावर को छोड़कर, जहाँ दाहिर तथा उसके सैनिकों ने प्राण रहते शत्रु का अधिकार न होने दिया, अन्यत्र सिंध में सर्वत्र जिस सुगमता से विदेशी आक्रांता को विजय प्राप्त हो गई, उससे भारत के नेत्र खुल जाना चाहिये थे। प्रजा को असहाय शत्रु के मुख में छोड़कर देबल के शासक का भाग जाना, नीरून राज्य द्वारा धन-जन देकर शत्रु की चापलूसी करना और ब्राह्मणाबाद द्वारा तुरंत आत्मसमर्पण कर देना—ये और ऐसी ही अन्य घटनायें हुईं, जिनसे स्पष्ट हो गया कि भारत में प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक नगर तथा प्रत्येक प्रान्त अपने को अकेला समझता था और जन साधारण के पास ऐसी कोई 'निधि' न थी, जिसे वह प्राणों से अधिक प्रिय मानता हो तथा जिसके लिये वह हँसते हँसते बलिदान हो सके—न देश, न धर्म, न धन, न स्वातंत्र्य।

शंकर का प्रयत्न

राजनीतिक दृष्टि से खण्ड-खण्ड हुये उस भारतवर्ष में फिर भी सांस्कृतिक एकता थी। अतः क्षत-विक्षत भारत का

सम्मिलक किसी स्वस्थ होकर अपने रोग का निदान कर सकता था। अतएव एक मनीषी ने भारत की इस वस्तु स्थिति को शीघ्र ही समझ लिया और उसको सुधारने के लिये निज जीवन की आहुति देने का संकल्प कर लिया। यह थे स्वामी शंकराचार्य। दासता की शृंखलाओं से भीत, त्रस्त एवं जर्जरित होते हुये भी उन्हें दूर रखने या तोड़ फेंकने के लिये निरंतर कृतसंकल्प एवं प्रयत्नशील भारत का यथार्थ इतिहास पोर्चुगीजों या अंग्रेजों, तुर्कों या मुगलों के आने पर नहीं, अपितु इसी समय तथा इसी संन्यासी के हाथों प्रारंभ होता है। उन्होंने देखा कि जिस नास्तिकता, बहुदेववाद या भौतिकवाद के कारण अरब के शावी, फिलस्तीन के सामी ईरान के जोराथुष्ट्री तथा अफगानिस्थान के बौद्धों को इस्लाम का लोहा मानना पड़ा, वही भारत के अणु-अणु में प्रविष्ट हुआ ईर्ष्या, द्वेष, लोभ, स्वार्थपरता, देशद्रोह, विश्वासघात दंभ, पाखण्ड आदि का कारण बना हुआ है। जहां उन्होंने ब्रह्मवाद एवं मायावाद द्वारा बहुदेववाद, नास्तिकता तथा भौतिकवाद को मिटाकर आध्यात्मिक एवं धार्मिक एकता का प्रचार किया, वहाँ तत्कालीन प्रमुख मतों के विरोध को मिटाने के लिये उन्होंने सामाजिक धर्म में एक ऐसे समन्वयवाद को अपनाया, जिसने सांस्कृतिक एकता की नींव सुदृढ़ करदी।

शंकर का यह प्रयत्न एक महान जन आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ, जिसने सारे भारतवर्ष में एक ऐसी दार्शनिक

एवं सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया जो रीति-नीति में भिन्न होती हुई भी, प्रवृत्ति, प्रभाव और प्रकार में इस्लाम द्वारा उत्पन्न क्रांति से बहुत कुछ मिलती-जुलती थी। बौद्धमत को आत्मसात् करने के लिये शंकर ने अपने ब्रह्मवाद में शून्यवाद का जिस प्रकार समावेश करके 'प्रच्छन्न-बौद्ध' का नाम पाया, उसी प्रकार यदि उस समय लोगों को पता होता कि अद्वैत ब्रह्म के जिस एकेश्वरवादी दर्शन का प्रचार शङ्कर कर रहे हैं वह मुहम्मद साहब के 'अब्रह्म या इब्राहिम के मत' से कितना साम्य रखता है, तो कदाचित् उन्हें प्रच्छन्न-मुस्लिम भी कह दिया जाता। कुछ भी हो सांस्कृतिक दृष्टि से शंकर का प्रयत्न भारत के लिये वही महत्त्व रखता है, जो मुहम्मद का अरब के लिये। दुःख की बात है कि यह महापुरुष ३३ वर्ष की अल्प आयु में ही चल बसा, अन्यथा संभवतः भारतवर्ष न केवल सांस्कृतिक दृष्टि से अपितु राजनीतिक दृष्टि से भी एक राष्ट्र हो जाता।

फिर भी भारत की भारतीयता को बचाये रखने में इस क्रांति ने जो काम किया उसका प्रभाव तात्कालिक ही नहीं स्थायी भी हुआ। यह इसी का प्रभाव समझना चाहिये कि जिन अरबों के आधिपत्य में आये हुये देशों में इस्लाम के अतिरिक्त अन्य कोई मत ही न रह गया था, उन्हीं के खलीफा ने सिंध के ब्राह्मणों के आवेदन-पत्र के उत्तर में लिखवाया कि "उनको अपने देवताओं की पूजा करने की आज्ञा दी जाती है। किसी को भी अपने धर्म का पालन करने से वञ्चित न

दिया जाय। वे अपने मकानों में जैसे चाहें रहें।" इसी प्रवृत्ति के दरियादिल खलीफा मंसूर (७५३-७७४) तथा खलीफा हारूँ ने बगदाद में भारतीय विद्वानों को बुलवाया और उनकी विद्या का अत्यन्त आदर किया। इसी समय कई संस्कृत ग्रंथों का अनुवाद अरबी में किया गया। शङ्कर के भगीरथ प्रयत्न का महत्त्व सचमुच हल्लाज (९२१ ई०) के आविर्भाव से व्यक्त होता है, जिसने शंकर के 'अहं ब्रह्मास्मि' के स्वर में स्वर मिला कर 'अनलहक' की अनुभूति प्राप्त की और 'अब्रह्म इब्राहीम' के धर्म को भारत के ब्रह्मवाद में पाया।

कुमारिल से रामदास तक

शंकर ने जिस काम को उठाया उसकी यथोचित पूर्ति कुमारिल ने की। परन्तु ये सारे प्रयत्न केवल दार्शनिक एवं धार्मिक क्षेत्र तक ही सीमित रहे। फलतः जहाँ देश में हिन्दुओं के मतमतान्तरों की विविधता में एकता देखी जाने लगी और जनता में धार्मिक कट्टरता भी पर्याप्त होगई, वहाँ समाज का आर्थिक एवं राजनीतिक ढाँचा ज्यों का त्यों बना रहा। अरबों तथा उनके खलीफाओं की उक्त उदारता तथा ब्रह्मवाद एवं मायावाद द्वारा उत्पन्न भौतिकता की उपेक्षा ने राजनीतिक उथल-पुथल के प्रति जन-साधारण को उदासीन बना दिया। 'कोई होइ निरप हमें का हानी' वाली मनोवृत्ति उस समय भी चल रही थी। यही कारण है कि जयपाल, पृथ्वीराज, साँगा आदि के नेतृत्व में देश के सामूहिक प्रयत्न भी विदेशियों की

बाढ़ रोकने में समर्थ न हो सके। उत्साह-हीनता, देशद्रोह, विश्वासघात, स्वार्थसाधन आदि जो प्रवृतियाँ इनमें तथा आगे के प्रयत्नों में बाधक बनी, उनका एक मात्र कारण यही था कि जनता में उक्त मनोवृत्ति काम कर रही थी। साथ ही जो भी मुसलमान शासक भारत में आये उनमें अधिकांश ने भारत को अपना देश बना लिया और उन्होंने यहां के आर्थिक, धार्मिक तथा सामाजिक जीवन में व्यापक एवं अनवरत हस्तक्षेप न कर पाया, क्योंकि एक तो जनता की धार्मिक कट्टरता ने तथा दूसरे कबीर, नानक जैसे संतों एवं सूफी महात्माओं के ऐक्य-विधायक प्रयत्नों ने उन्हें उदार होने के लिये विवश कर दिया। अतः शङ्कर एवं कुमारिल की भाँति सूर और तुलसी के तुल्य महात्मा कवियों को भी राजनीतिक अथवा आर्थिक प्रश्न कोई महत्व के न जान पड़े—अध्यात्मतत्त्व के अधिकाधिक प्रचार में ही उन्होंने अपने जीवन को सार्थक समझा और विद्वानों की राजनीति के प्रति उदासीनता ज्यों की त्यों चलती रही।

इस्लाम और भारतीयता में समन्वय स्थापन करने के लिये जो बीज-वपन शंकर के अद्वैतवाद ने किया था और जिसके लिये अनेक हिन्दू-मुस्लिम संतों तथा सुधारकों ने मुस्लिम युग में प्रयत्न किया था वह संभवतः पूर्ण रूपेण पल्लवित एवं पुष्पित होकर रहता, परन्तु देश का दुर्भाग्य था कि देहली के तख्त पर दाराशिकोह न बैठ कर औरंगजेब बैठा। उसकी धार्मिक

कट्टरता तथा हिन्दु-द्वेष ने त्राहि त्राहि मचादी और साम्प्रदायिक कटुता को चरम सीमा तक पहुंचा दिया। उसके व्यापक अत्याचार और अतिचार से भारत को एक लाभ अवश्य हुआ, और वह यह कि भारत मे राजनीतिक क्रांति की आवश्यकता भी समझी जाने लगी। सिक्ख गुरुओं ने पंजाब में तथा समर्थगुरु रामदास ने दक्षिण में सैन्यवादी राष्ट्रीयता की भावना को जागृत किया। इसी समय राजपूताने में राजसिंह के हृदय में भी राष्ट्रीयता का कुछ उद्रेक हुआ। परन्तु दुःख की बात यह है कि औरंगजेब के अत्याचार उसी निर्दयता तथा तीव्रता के साथ राजपूत राज्यों पर न हो सके जिस के साथ वे पंजाब तथा दक्षिण मे हुये, और औरंगजेब के पश्चात् उस भावना को जागृत रहने के लिये विवश करनेवाली कोई शक्ति भी न रह गई। मुगल-साम्राज्य के छिन्न-भिन्न हो जाने से, मुगल सूबेदार स्थानीय जनता से समझौता करके अपने अपने राज्य स्थापित करके बैठ गये; एक-आध स्थान पर, जहां कहीं उनके कुव्यवहार से जनता में असन्तोष हुआ भी वह इतना स्थायी और व्यापक न था कि अखिल भारतीय रूप धारण कर सकता।

फिरंगी संस्कृति—

फिरंगी संस्कृति, जो मुगल शासन के लगभग साथ ही भारत में घुसी, औरंगजेब के पश्चात् अच्छे प्रकार से शिर उठाने लगी। यह संस्कृति, इस्लाम की भांति आंधी बनकर

नहीं, नन्हीं नन्हीं बून्दों की फुहार बनकर आई; अतः इसके प्रति भारत की प्रतिक्रिया देर में प्रकट हुई। जब तक फिरंगी लोग केवल व्यापारी रहे, तब तक इनकी संस्कृति के प्रचारक पादरियों को पूर्णतया निर्दोष समझा गया, परन्तु ज्यों ज्यों ये व्यापारी से शासक बनते गये, त्यों त्यों उनके पादरियों की भयङ्करता प्रकट होने लगी। फिर भी प्रारंभ में यह केवल दक्षिण भारत में यत्र तत्र स्थानीय समस्या के रूप में ही प्रकट हुई और उसका जो प्रतिकार भी हुआ वह केवल अस्थिर एवं स्थानीय था जिसका शेष भारत को कुछ भी पता नहीं चला। भारतवर्ष ने इस संस्कृति की घातकता को अच्छी प्रकार तब पहचाना, जब अंग्रेजों को अपनी कूटनीतज्ञता से लगभग सारे देश पर शासन करने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। इसी समय भारत ने अपनी संस्कृति को फिरंगी प्रभाव से बचाने के लिये सर्व प्रथम ऐसा प्रयत्न किया जो कुछ व्यापक तथा तथा स्थायी हो सका।

दयानन्द का प्रयत्न—

यह प्रयत्न प्रारंभ में तो प्राच्य एवं पाश्चात्य, संस्कृतियों के बीच एक समझौता सा था, जो विदेशी शासन को आवश्यक एवं अनिवार्य्य सा मान बैठा था। इस की अभिव्यक्ति हिन्दुओं में ब्रह्मसमाज तथा प्रार्थनासमाज के रूप में और मुसलमानों में सर सैय्यद अहमदखाँ की विश्वविद्यालय-स्थापना आदि के रूप में हुई। परन्तु इन प्रयत्नों का लक्ष्य संस्कृति-सांकर्य्य

था, यह शुद्ध भारतीयता नहीं जिसे शताब्दियों पहले शंकर ने सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया था और जिसको लक्ष्य बनाकर आर्यसमाज तथा रामकृष्ण मिशन उत्पन्न हुये। आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द थे जो शंकर के समान ही एक ब्राह्मण ब्रह्मचारी एवं वेद, शास्त्र आदि के धुरंधर पण्डित थे। उन्हें विदेशी शासन, विदेशी भाषा, विदेशी वेश-भूषा और विदेशी मतवाद तनिक नहीं भाते थे। वे शुद्ध भारतीयता के पक्षपाती थे और उन्हों ने इस भारतीयता को सर्वत्र जिस विदेशीपन, अंधविश्वास तथा आडंबर से जकड़ा हुआ पाया उसको दूर कर शुद्ध, मुक्त तथा स्वतंत्र आर्यत्व (भारतीयता) को पुनः स्थापित करने का संदेश भारत के कोने कोने में पहुंचा दिया। उनके ऋषि-नेत्रों ने देखा कि हिन्दु, जैन, बौद्ध, सिक्ख, पारसी, मुस्लिम, ईसाई आदि नाना मतों द्वारा विभक्त भारतीयों में आर्यत्व ही एक ऐसा सम्बन्ध है, जो उनकी अनेकता को एकता में परिवर्तित कर सकता है। अतः उन्होंने 'आर्य-समाज' में मनुष्य और मनुष्य के बीच, स्त्री एवं पुरुष के बीच सारे भेदभाव को मिटाकर समानता स्थापित करने तथा नाना-जाति-मयी आर्य जाति को एक संगठित समाज में ढालने के लिये आर्यों के मूल धर्म वैदिक धर्म को अपनाया।

यह एक महान सांस्कृतिक प्रयत्न था, एक विराट आन्दोलन था, जिसका प्रभाव भारतीय समाज के प्रत्येक वर्ग तथा प्रत्येक क्षेत्र पर पड़ा और जिसके आदर्श में प्रायः वे सभी

बातें आजाती हैं, जो आगे चलकर अन्य धार्मिक सामाजिक अथवा राजनीतिक नेताओं ने अपनाईं। हरिजनोद्धार, जाति-पांत का अन्त, भौतिकवाद का विनाश, अध्यात्मवाद का प्रचार, प्राचीन संस्कृति का पुनरुद्धार तथा बाल-विवाह या बेमेल-विवाह की रोक, विधवा-विवाह का प्रचार आदि सामाजिक या धार्मिक समस्याओं से लेकर स्वदेशी प्रचार, विदेशी बहिष्कार देश-स्वातंत्र्य तथा साम्प्रदायिक एकता जैसे राजनीतिक या अर्द्ध राजनीतिक प्रश्न तक इस आन्दोलन के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष लक्ष्य थे; परन्तु, फिर भी यह कोई राजनीतिक आन्दोलन न था; यह सदा की भांति केवल एक धार्मिक आन्दोलन था, जिसके साफल्य में ही भारतीय मनीषियों द्वारा सब प्रश्न स्वयं ही सुलझे हुये समझे जाते थे। प्रारंभ में स्वामीजी को अच्छा स्वागत मिला, न केवल हिन्दुओं से अपितु मुसलमानों तक से। कई बार तो मुसलमानों के घर स्वामी जी ठहरे और अपने भाषणों में उन्हीं के धर्म का खण्डन किया। यदि इसी प्रकार का वातावरण रहता, तो सभवत: उनके आन्दोलन को सफलता मिल जाती।

परन्तु कई ऐसी बातें थीं, जिसके कारण स्वामी जी को जनता से वैसा सहयोग आगे चलकर न मिल सका जैसा प्रारंभ में मिला। प्रथम तो पूर्व भारतीय परंपरा के अनुसार ही आर्य-समाज आंदोलन ने भी राजनीतिक प्रश्न को पूर्णतया छोड़ दिया, जब कि इस समय की राजनीतिक अवस्था ऐसी

थी, जिसको सुलझाये बिना सांस्कृतिक पुनरुत्थान आंदोलन भी पूर्ण रूपेण सफल नहीं हो सकता था, क्योंकि अन्य विदेशी शासकों की भांति योरोपीय शासक न थे; उनके हाथों में राजसत्ता का उपयोग किसी व्यक्ति की महत्त्वाकांक्षा या धर्मांधता की तृप्ति के लिये नहीं, अपितु एक पूरी जाति, एक पूरे समाज की स्वार्थ-सिद्धि के लिये रहा था। अतः पिछले शासकों के विपरीत, इन लोगों ने भारत को अपना देश कभी नहीं बनाया, अतः इनका शासन सदा ही भारत के आर्थिक शोषण के लिये रहा। इनका स्व-संस्कृति प्रचार भी, इस्लाम की भांति सत्य-प्रचार की भावना से प्रेरित होकर नहीं था, जो इस युग के शंकर (दयानन्द) के सत्य से प्रभावित या आतंकित हो जाता; उसका लक्ष्य तो उक्त साम्राज्यवादी शोषण को चलाने वाली शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ तथा सबल बनाना था। फिरंगी-संस्कृति तथा फिरंगी शासन के अन्योन्याश्रित होने को स्वामीजी ने सम्भवतः समझ लिया था और यह अनुमान भी सर्वथा असंगत नहीं हो सकता कि स्वामीजी का देशी राजाओं के संसर्ग में आना किसी राजनीतिक लक्ष्य को लिये हुये हो और उनको विष दिलाने में किसी व्यक्ति विशेष का ही नहीं अपितु क्रूर एवं कूटनीतिज्ञ फिरंगी सरकार का भी हाथ हो।

दूसरे, जब दयानन्द ने काम प्रारंभ किया, तब १८५७ ई० के स्वातंत्र्य-संग्राम से फिरंगियों को यह प्रकट हो गया

था कि उन्होंने अपने आर्थिक साम्राज्यवाद को सुदृढ़ करने के लिये राजनीतिक एवं सांस्कृतिक दासता स्थापित करने के जो प्रयत्न कर रक्खे हैं, उनकी सफलता के लिये न केवल स्वयं उनमें अधिक प्रगति एवं प्रवाह की आवश्यकता है, अपितु भारत के विभिन्न वर्गों तथा संप्रदायों में भेद-बुद्धि फैलाना और अपनी कूट-नीति को पैना रखना भी अत्यंत आवश्यक है। अतः इस युग में जहाँ शासन-चक्र को सुदृढ़ बनाने के लिये सेना, पुलिस, रेल, तार आदि का अत्यधिक विस्तार हुआ और फिरंगी-संस्कृति को फैलाने के लिये अंग्रेजी स्कूलों, ईसाई मिशन की विभिन्न संस्थाओं तथा अन्य सरकारी प्रयत्नों में वृद्धि की गई, वहाँ हिन्दु मुसलमानों में भेद-बुद्धि को उत्पन्न करने के लिये भी असीम धन जन और मन को लगाया गया। यों तो यह भेद–नीति अंग्रेज पहले से ही अपना रहे थे जिसके फलस्वरूप इस समय सर सैय्यद अहमद जैसे राष्ट्रीय मुसलमान भी हिंदी को "गंवारी बोली" कह कर 'वर्नाक्यूलर' स्कूलों तक से उसे निकाल फेंकने में प्रयत्नशील थे और उनकी पीठ पर फिरंगियों का कैसा वरद-हस्त था, यह गार्सां द तासी के निम्न लिखित कथन से स्पष्ट हो जायेगा—

"मैं सैयद अहमद खाँ जैसे विख्यात मुसलमान विद्वान की तारीफ में और ज्यादा नहीं कहना चाहता। उर्दू भाषा और मुसलमानों के साथ मेरा जो लगाव है वह कोई छिपी हुई बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि मुसलमान लोग कुरान को तो आसमानी किताब मानते ही हैं, इंजील की शिक्षा को भी

अस्वीकार नहीं करते, पर हिन्दू लोग मूर्तिपूजक होने के कारण इंजील की शिक्षा को नहीं मानते।" यही नहीं उसने अपने स्वार्थ परायण मन्तव्य को और भी खोलकर कह दिया कि, "हिन्दी में हिन्दू धर्म का आभास है—वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुत-परस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। उसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का सचय है। इसलाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धान्त है, इसलिये इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती हैं।" इन उद्धरणों में जो भेद-नीति दिखलाई पड़ती है, वह एक व्यक्ति की नहीं सारे फिरंगी साम्राज्यवाद की आवाज है, जो आगे चलकर कर्जन की बंग-भग योजना, मिन्टो-मार्ले-सुधार के पृथक-निर्वाचन, अनेक सांप्रदायिक दंगों, १९३३ 'सांप्रदायिक निपटारे' (Communal Award) तथा अन्त में भारत-विभाजन एवं उसके साथ भयङ्कर नर-संहार के रूप में प्रकट हुई।

तीसरे, स्वामी जी केवल १८-१९ वर्ष ही आन्दोलन चला पाये और उनकी आकस्मिक अप्रत्याशित और अकाल मृत्यु होने से, उन्होंने अपना पूरा कार्यक्रम भी देश के सामने न रख पाया था। उनके पीछे उनके अनुयायियों ने स्वामी जी के 'पाखण्ड-खण्डन' को ही प्रमुख ध्येय बना लिया, जिसके कारण न केवल रचनात्मक कार्यक्रम जो इससे कहीं अधिक महत्त्व का था, उपेक्षित हो गया, अपितु जो कुछ थोड़ा बहुत

किया भी गया उसमें जनता ने पर्याप्त सहयोग तथा उत्साह नहीं दिखाया। यद्यपि पं० लेखराम, स्वा० श्रद्धानन्द तथा लाला लाजपतराय जैसे बड़े योग्य नेताओं को आर्यसमाज ने जन्म दिया, फिर भी यह मानना पड़ेगा कि ऐसा कोई नेता न हुआ, जो वैसी ही दूरदर्शिता, विशाल-हृदयता, उच्चाशयता तथा व्यापक दृष्टिकोण से भारत की परिस्थितियों को समझने का प्रयत्न करता और फिर 'भारतीयता' की रक्षा के लिये केवल स्वामी जी के 'शब्दों' को ही नहीं, उनके भीतर व्याप्त परम 'उद्देश्य' को भी समझने का प्रयत्न करके आवश्यकतानुसार कार्यक्रम तथा उसकी रीति-नीति में उचित परिवर्तन भी करता।

अस्तु, यद्यपि स्वामी जी तथा उनके अनुयायी अपने ध्येय में पूर्ण-रूपेण सफल नहीं हुये, फिर भी जिस 'भारतीयता' को शुद्ध, प्रबुद्ध एवं सुदृढ़ बनाने के लिये अमृतपुत्रों (देवपुत्रों), गोपुत्रों, बार्हस्पत्यों, राजपुत्रों ने वैदिककाल में, वाल्मीकि, व्यास, महावीर, बुद्ध प्रभृति ने ई० पू० में तथा शंकर, कुमारिल आदि ने अरन-उत्थान काल में भगीरथ प्रयत्न किये, उसी 'भारतीयता' को परिष्कृत, सुरक्षित तथा जागृत करने के लिये 'आर्य-समाज' ने जो किया वह भारत के इतिहास में सदैव अमर रहेगा। भारतीयता के पुनर्निर्माण और पुनर्जागरण की यह शैली जो वैदिककाल से चली आरही थी और जिसके अनुसार राजसत्ता को अछूता रखकर भी काम चलाया जाता था, वर्तमान

परिस्थिति में उनकी अनुपयुक्तता को स्वामी जी ने, जैसा उनके ग्रंथों से पता चलता है, भली भांति अनुभव कर लिया था और यद्यपि आर्यसमाज ने राजनीतिक कार्यक्रम न अपनाया, अथवा (स्वामी जी अकाल मृत्यु के कारण) उसने न अपना पाया, फिर भी देश के लिये त्याग और बलिदान की भयङ्कर ज्वाला लेकर जो देशभक्ति राजनीतिक आन्दोलनों में आगे चलकर गांधी जी के नेतृत्व में प्रकट हुई, उसका मूल श्रेय स्वामी दयानन्द को मिलना चाहिये।

(३) गांधी का साम-गान—एक स्वरीय से बहुस्वरीय

हेतु और मूलमंत्र

गांधी के जिस साम-गान से, न केवल इस देश का, अपितु सारे विश्व का कोना-कोना प्रतिध्वनित हो गया वह भारतीयता की आधुनिक अभिव्यक्ति है, जिसके द्वारा उसने निज स्वरूप को परिष्कृत और सुरक्षित करने का प्रयत्न किया है। भारतीयता का सार है आध्यात्मिकता। अतः फिरंगी-संस्कृति के आक्रमण से पहले, भारत के मनीषियों ने जो भी आन्दोलन किये, वे अपनी अध्यात्म-प्रधान संस्कृति को जीवित रखने के लिये; राजनीति ने उन्हें प्रायः चिन्तित नहीं किया। फिरंगी संकट से आपन्न भारत ने यह भली भांति अनुभव

कर लिया कि फिरंगियों की राजनीतिक दासता से मुक्ति पाये बिना भारतीयता न अपने आध्यात्मिक पक्ष में बच सकती है, और न भौतिक पक्ष में। यद्यपि इस रहस्य का ज्ञान दयानन्द सरस्वती को ही हो गया था, परन्तु तो भी गांधी जी से पूर्व देश के उद्धार के लिये दो प्रकार के प्रयत्न पृथक पृथक चल रहे थे—एक प्रकार में तो आर्यसमाज और रामकृष्ण मिशन आदि की गणना की जा सकती है जो भारत की पूर्व-परंपरा के अनुसार राजनीतिक या आर्थिक कार्यक्रम (भौतिक पक्ष) को पूर्णतया परित्याग कर केवल आध्यात्मिक पक्ष को ही अपना रहे थे; इसके विपरीत एक दूसरे प्रकार के प्रयत्न थे, जिनके अन्तर्गत १८५७ का स्वातंत्र्य युद्ध, बंग-भंग-आन्दोलन, होम रूल आन्दोलन तथा यदा-कदा होनेवाली छुटफुट आतंक वादी घटनायें आती हैं। पहले को अध्यात्मवादी और दूसरे प्रकार को भौतिकवादी कहा जा सकता है। गाँधी जी की मौलिकता इसी में है कि उन्होंने इन दोनों प्रकार के प्रयत्नों में ऐसा समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया, जिसमें अध्यात्मवादी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये भौतिकवादी लक्ष्य को पवित्र तथा आध्यात्मिक साधन बना लिया गया। १९२४ में, गांधी जी ने इसी अभिप्राय से कहा था, "मेरी समझ में तो साधन को जानना पर्याप्त है; मेरे जीवन-दर्शन में साधन और साध्य परस्पर स्थानान्तरित हो सकते हैं।"

दुःख की बात है कि जब गांधी जी ने यह संदेश दिया, तो कांग्रेसी लोग उनके इस वाक्य से बहुत रुष्ट हुये, कारण

यह था कि उनकी समझ में आध्यात्मिक तथा भौतिक, अलौकिक तथा लौकिक दो पृथक पृथक तत्त्व थे, जिनमें समन्वय संभव ही न था। इसी कारण यह भौतिकवादी संसार गांधी जी की बहुत सी बातों को न समझ सका, और बहुतों के महत्त्व को उनके परिणाम देखकर ही जान पाया। स्वतंत्रता जैसे बड़े बड़े प्रश्नों को छोड़कर, जब उन्होंने अपने आन्दोलन के लिये रौलट ऐक्ट, खिलाफत तथा नमक-कर जैसी बातों को लिया, तो ऐसे विरले ही होगें जो गांधी जी के बेतुकेपन पर हंसे न हों। यही बात सत्य एवं अहिंसा के सिद्धांतों के विषय में कही जा सकती है। यह कम आश्चर्य की बात नहीं है कि जिस अहिंसा के सिद्धांत पर आज कांग्रेसी नेता सगर्व बात करते सुने जाते हैं उसी को किसी समय कांग्रेस ने बड़े वाद-विवाद के पश्चात् केवल इसी लिये माना था कि देश सैन्यवादी विद्रोह के लिये तैय्यार नहीं था। देश-भक्ति के जिस हिंसात्मक कृत्य के लिये बंगाल प्रांतीय कांग्रेस कमेटी साधुवाद दे चुकी हो और जिसको अखिल भारतीय कांग्रेस के अधिकांश सदस्य भी आदरणीय समझते हों, उसी का विरोध करते हुये गांधी के नेत्रों में अश्रुओं के मर्म को भला कौन समझा होगा? किसने समझा होगा गांधी के हृदय को उस समय जब गांधी-इर्विन समझौते के पश्चात् भी भगतसिंह आदि की रक्षा के समान देशका अत्यभिलषित काम भी न हो पाया!

हिंकार

गांधी जी के जीवन-दर्शन का उद्भव और विकास जिस प्रकार हुआ, उसका विश्लेषण करने से स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि गांधीवाद में हमें छोटी लगने वाली बातें क्यों महत्त्व प्राप्त कर लेती हैं और हमें महत्त्वपूर्ण लगने वाली वहां क्यों तुच्छ समझी जाती है। दक्षिण अफ्रीका में जब गांधीजी ने 'सत्याग्रह' का अस्त्र भारतीयों के हाथ में दिया, तो केवल इस लिये कि उन्हें आत्म-गौरव एवं निर्भीकता प्राप्त हो, जिससे वे आत्मबल पा सकें। अपमान, अन्याय तथा अत्याचार का प्रतिकार राज्य-शक्ति या पशु-बल द्वारा भी कुछ सीमा तक संभव हो सकता था, परन्तु उस अवस्था में ऐसा आत्म-बल नहीं प्राप्त हो सकता था जो द्वेष एवं प्रतिहिंसा, भय एवं मोह से ऊपर उठकर व्यक्ति तथा समाज को वह शक्ति प्रदान करे जिससे भौतिक भोगों को परम साध्य मानने वाली अर्थ-काम-परायणता के स्थान पर अध्यात्मप्रधान भारतीयता की प्रतिष्ठा हो। इसीलिये गांधी जी ने कहा, "जब सहयोग आत्म-पतन तथा अपमान का साधन हो, तब असहयोग कर्तव्य हो जाता है।" १९१९ में गांधी जी ने जब आत्मशुद्धि के लिये उपवास करके आन्दोलन प्रारंभ किया, तो राजनीतिज्ञ निरंतर पूछ रहे थे, "राजनीति से आत्मशुद्धि का क्या संबन्ध ?" उसी प्रकार १९२० में, अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन विषयक कांग्रेस-प्रस्तावों का उल्लेख करते हुये कहा गया कि,

"ये प्रस्ताव कांग्रेस की शक्तियों को आत्मिक एवं नैतिक बल प्राप्त करने में लगाते हैं और राजनीतिक वस्तुस्थिति की ओर तनिक भी ध्यान नहीं देते।" इन लोगों की समझ में गांधी जी के ये शब्द नहीं बैठ पाये. जो उन्होंने स्वराज्य-सभा (Home Rule League) के सभापति के रूप में कहे, "मेरा विश्वास है कि देश के राजनीतिक जीवन में अडिग सत्य और आर्जव को लाना सभव है। इस बात का मैं भरसक प्रयत्न करूँगा कि सत्य और अहिंसा को हमारी सभी राष्ट्रीय कार्यवाहियों में स्वीकार कर लिया जाय।" इस कथन को उन्होंने १९१७ तथा १९१९ के आंदोलनो से भी बहुत कुछ प्रमाणित कर दिया।

प्रस्ताव

इस प्रकार गांधी जी ने जब अपने 'सत्याग्रह' का भारत में श्रीगणेश किया, तो उनके सहयोगी वास्तविक उद्देश्यों के समझने में असमर्थ होते हुये भी उनका साथ दे रहे थे, क्योंकि 'सत्याग्रह' का परिणाम तथा प्रभाव, उनके लिये बुद्धिगम्य न होने पर भी, उनसे छिपा नहीं था। १९२१ के आंदोलन में अहिंसा को, जैसा कि स्वयं गाँधी जी ने उस समय कहा था, कांग्रेस ने इसी लिये अपनाया कि हिंसात्मक प्रयत्न संभव नहीं थे; १८५७, १९०५ और उसके पश्चात् के हिंसात्मक प्रयत्नों की असफलता तथा दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में प्रारंभिक सत्याग्रह की पूर्ण अथवा आंशिक सफलता ने कांग्रेस को बाध्य किया कि वह गांधी जी की प्रणाली को अपनावे। परन्तु

गांधीजी के विचार इस विषय में स्पष्ट थे। उनके लिये तो देश के लिये आर्थिक या राजनीतिक स्वराज्य प्राप्त करना तो एक गौण विषय था; उनका मुख्य ध्येय था आध्यात्मिक स्वराज्य—शुद्ध भारतीयता—की रक्षा करना। परन्तु तत्कालीन परिस्थिति में, यह गौण लक्ष्य ही गौणता को छोड़कर प्रमुख बन बैठा था। उसे पुनः गौणता देने के लिये गांधी जी ने सत्याग्रही के लिये जो प्रतिज्ञापत्र रक्खा था, उसमें उसे ईश्वर को साक्षी मानकर, अन्य बातों के साथ, यह भी मानना पड़ता था कि वह मनसा, वाचा, कर्मणा सत्य एवं अहिंसा का पालन करेगा। इस प्रतिज्ञा में 'मनसा' शब्द पर मुल्लाओं ने जो आपत्ति उठाई, खापर्डे और तिलक ने 'आंदोलन की आध्यात्मिकता' के कारण जो इसका विरोध किया और भीषण गति से महान जन-जागृति करते हुये आंदोलन को 'अहिंसात्मक प्रवृतियों' के कारण बन्द कर देने पर पं० मोतीलाल नहरू तथा देश बन्धु चितरञ्जनदास ने जो गांधी जी पर रोष प्रकट किया वह स्पष्ट बतलाता हैं कि नेता और उसके अनुयायियों में मतैक्य नहीं था, यद्यपि दोनों एक दूसरे को आवश्यक ही नहीं अनिवार्य्य समझते थे। फिर भी यह आन्दोलन राजनीतिक जागृति करने तथा समाज को अहिंसा एवं सत्य की शिक्षा देने में अत्यंत सफल हुआ।

जब हम इस आंदोलन की सफलता पर विचार करते हैं, तो हमें इसके कुछ अप्रिय परिणामों को भी न भूलना

चाहिये। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि जिस आंदोलन में हिन्दू-मुस्लिम एकता अभूतपूर्व रही हो, उसी के अन्त में सांप्रदायिक दंगे भी अभूतपूर्व उग्रता तथा भयङ्करता लिये हुये हों। प्रायः लोग कहते हैं कि जनता की संघर्षात्मक प्रवृतियों को जब आंदोलन करने से रोक दिया गया, तो वह सांप्रदायिक दंगों के रूप में प्रकट हो गई। परन्तु, इस बात को मानलेना इतिहास तथा सामाजिक मनोविज्ञान के सर्वथा विपरीत है। इन दंगों का मुख्य कारण तो अंग्रेजों की भेद-नीति थी जो मुसलमानों पर इस समय अति शीघ्र प्रभाव डाल सकी, क्योंकि 'खिलाफत' के दिनों में उन्होंने भारत की अपेक्षा 'खलीफा' की अधिक चिन्ता की थी, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की अपेक्षा 'इस्लाम पर कुफ्र ढाने वाले' काफिरों को मिटाने के विषय में अधिक सोचा था और इस अभारतीय, हिंसा-पूर्ण तथा क़ाफिर-विरोधी मनोवृत्ति को हिन्दुओं के विरुद्ध भड़काने में क्या देर लग सकती थी, विशेषकर तब जबकि बहुत पहले से ही फिरंगी विद्वान् मुसलमानों की पीठ पर हाथ फेर कर हिन्दू-मुस्लिम में फूट डालने का प्रयत्न कर रहे थे। उदाहरण के लिये, गार्सां द तासी ने १८५२ में कहा था, "हिन्दी में हिन्दू-धर्म का आभास है—वह हिन्दू-धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान हैं। इसके विपरीत उर्दू में इसलामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इस-लाम भी 'सामी' मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है, इसलिये इसलामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब

की विशेषताएँ पाई जाती हैं।"

यह तो एक उदाहरण है, परन्तु इस प्रकार के प्रयत्न निरंतर चलते रहे, जिसके परिणाम स्वरूप उर्दू को अधिकाधिक अरबी और फारसी शब्दों से भरा गया और उसी को अदालतों में स्थान दिया गया; नौकरशाही के संकेतों से (प्रारंभ में सद्भावना के साथ) मुस्लिम लीग तथा हिन्दू महासभा को जन्म दिया गया, मुसलमानों की ओर से दंगे करने के नये नये बहाने ढूंढ़े गये और सरकार की ओर से इस विद्वेषाग्नि को भड़काने के लिये नियमित रूप से दोनों जातियों के देश-द्रोहियों का उपयोग किया जाने लगा।

उद्गीथ

अस्तु, गांधी जी स्वयं लक्ष्य भ्रष्ट कभी न हुये; उन्होंने विरोधियों से समझौता करना, यदा-कदा मार्ग में ठहरजाना तथा शनैः शनैः सत्य एवं अहिंसा के अस्त्रों को पैना करना तो सीखा था, परन्तु निराश होना, आध्यत्मिकता के पवित्र ध्येय को छोड़ देना अथवा कोरी वाह-वाही, अर्थ–काम-परायणता या अपनी निज की महत्त्वाकांक्षा के लिये अवसर वादिता को अपनाना उन्हें कभी नहीं रूचता था। अतः स्वराज्य-पार्टी से समझौता करके, अनिच्छा होते हुये भी, कौंसिल-प्रवेश की नीति को आशीर्वाद देकर वे स्वयं रचनात्मक कार्य-क्रम के शान्तिमय तथा अवद्य काम में लग गये, क्योंकि

गांधी जी की दृष्टि में खद्दर-प्रचार, अस्पर्श्यता-निवारण, हिन्दू-मुस्लिम-एकता तथा मादक-द्रव्य-निषेध आदि का कार्यक्रम 'भारतीयता' की शुद्धि तथा सबलता के लिये क्षणिक 'हलचल' की अपेक्षा अधिक महत्त्व- पूर्ण था।

इसी प्रकार की वर्षों की तैय्यारी के पश्चात् जब १६३० में पुनः आंदोलन प्रारंभ हुआ, तो गांधीवाद अपनी चरमसीमा पर पहुँच गया। यही वह समय था जब सिक्ख पठान अहीर, जाट तथा राजपूत जैसी युद्धप्रिय क्षत्रिय जातियों ने भी लाठी-प्रहार सहे, छातियों पर गोलियाँ सहीं, परन्तु विरोधी पर उँगली भी न उठाई। यही वह समय था, जब यत्र-तत्र सेना ने भी इन निहत्थे सत्याग्राहियों पर गोली चलाने से इनकार कर दिया और यही वह समय था, जब गांधीवाद ने एक ऐसा वीर सिपाही उत्पन्न किया जिसने केवल अहिंसा-अस्त्र को लेकर अपने को सांप्रदायिकता की लपटों में झोंक दिया और जिन मुसलमानों की रक्षा में वह निरंतर लगा रहा उन्हीं के हाथों से मारा गया। इस प्रकार के आध्यात्मिक उत्कर्ष को छोड़कर, राजनीतिक दृष्टि से भी यह आंदोलन सब से अधिक महत्त्वपूर्ण था। ब्रिटिश-साम्राज्य हिल उठा, गोल-मेज-कान्फ्रेन्स कांग्रेस के बिना असफल रही और लार्ड इर्विन को गांधी जी के साथ समझौता करने पर विवश होना पड़ा, यद्यपि सदा की भांति इस बार भी गांधीजी के अनुयायी प्रायः इसके विरुद्ध थे और, जैसा कि आगे चलकर स्पष्ट हो गया, सरकार की नियत साफ नहीं थी।

प्रतिहार

यद्यपि प्रायः लोगों ने इस आंदोलन की अपूर्व शक्ति तथा आशातीत सफलता पर ही दृष्टि डाली, और गांधी जी के उसे भंग करने पर सुभाषबोस तथा स्वर्गीय पटेल के शब्दों में, कहा कि "राजनीतिक नेता के रूप में गांधी असफल रहे" परन्तु गांधी जी की दृष्टि केवल उसकी त्रुटियों पर ही रही: उन्होंने देखा कि यह आन्दोलन अभी बहुत दोषपूर्ण था —खुल्लमखुल्ला 'लाल टोपी हाय ! हाय !" के नारे लगाये गये और अंग्रेजों को भर-पेट गालियाँ दी गईं दिन-दहाड़े झूठ बोला गया और चुरा-छिपाकर प्रकाशन आदि काम चलाया गया; बड़े बड़े नेताओं तक ने पुलिस को अनेकबार धोखा दिया और गिरफ्तार होने से बचने का प्रयत्न किया। अतः यद्यपि औरों की दृष्टि में आंदोलन ठीक चल रहा था, और बन्द नहीं होना चाहिये था, गांधी जी की दृष्टि में वह लक्ष्य भ्रष्ट और पथ-भ्रष्ट हो चला था, क्योंकि मनसा, वाचा तो दूर 'कर्मणा' भी सत्य एवं अहिंसा का पालन नहीं हो रहा था।

इससे स्पष्ट है कि पहले आंदोलन की भांति ही इस आंदोलन' ने भी अन्त में नेता तथा उनके अनुयायियों के दृष्टि कोण के भेद को भली-भांति बतला दिया। दोनों को यह समझ जाना चाहिये था—और संभवतः वे समझते भी थे—कि उनमें से एक अध्यात्मप्रधान 'भारतीयता' के लक्ष्य को लेकर चला

है और दूसरा केवल भौतिकताप्रधान 'भारतीयता (अर्थात् राजनीतिक तथा आर्थिक स्वातंत्र्य) में ही अपने प्रयत्न की इतिश्री समझता है। परन्तु, यह बात दोनों ने ही समझना न चाही, क्योंकि सौभाग्य से दोनों को एक सूत्र में बांधने वाली बात यह थी कि गांधी जी अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिये दूसरे लक्ष्य की पूर्ति भी आवश्यक समझते थे । परन्तु धीरे-धीरे शुद्ध भौतिकवादी कांग्रेस के भीतर अधिक बढ़ते गये, पुराने हिंसात्मक क्रांतिवादी, साम्यवादी तथा समाजवादी सभी अपनी अपनी महत्त्वाकांक्षा को पूर्ण करने के लिये गांधी जी के नेतृत्व में एकत्र हो गये थे; अतः विरोध जोर पकड़ता चला गया, यहां तक कि उसकी अभिव्यक्ति त्रिपुरी कांग्रेस के समय हो ही गई और गांधी जी को अनायास ही (बिना किसी बुरे उद्देश्य के) कहना पड़ा कि 'पट्टाभि की हार मेरी हार है।' सचमुच यही बात थी—गाँधी जी का आध्यात्मवादी नेतृत्व कांग्रेस का बहुमत नहीं चाहता था, परन्तु साथ ही और इतना प्रभावशाली नेतृत्व भी अप्राप्य था ।

निधन

अतः गांधी जी की हार को जीत में परिवर्तित किया गया और सुभाष को कांग्रेस छोड़नी पड़ी, इसलिये नहीं कि गांधी जी सुभाष को नहीं चाहते थे, अपितु इसलिये कि देश (स्वयं सुभाष भी) गांधी जी के नेतृत्व को छोड़ने के लिये तैय्यार न था। परन्तु, इस लीपापोती से सत्य को कब तक

छिपाया जा सकता था । गांधी जी स्वयं जानते थे कि कांग्रेस के भीतर हिंसा और असत्य बुरी तरह से घर कर चुका है; इसी लिये उन्होंने कांग्रेस की परिष्कृति तथा शुद्धि करने के लिये कई बार असफल प्रयत्न भी किये थे। अन्त में १६४२ से लेकर १६४८ में गांधी जी की मृत्यु तक जो जो घटनायें देश में हुई, उनसे स्पष्ट होगया कि गांधी जी के आध्यात्मिक लक्ष्य को रखने वाले कांग्रेस में बहुत कम है और उनको राजनीतिक स्वतंत्रता के सामने सत्य तथा अहिंसा का कोई मूल्य नहीं है। १६४२ का अनियंत्रित आन्दोलन, तोड़-फोड़ और मार-काट आजाद-हिन्द-फौज की वीरता, कांग्रेस द्वारा अहिंसा लक्ष्य में हेर-फेर, जल तथा स्थल सेना में सशस्त्र विद्रोह—ये सब बातें स्पष्ट बतलाती थीं कि गांधीजी राजनीतिक जागृति करने में पूर्ण सफल हो चुके हैं, परन्तु अपनी 'अध्यात्म-प्रधान भारतीयता' का पुनरुद्धार करने में वे कोसों दूर हैं, इस बात को केवल गांधी जी ही जानते थे और समझते थे।

एकस्वरीय से बहुस्वरीय

परन्तु, गांधी जी निराश नहीं थे, उनको आशा थी कि अब भारत के स्वतंत्र होने पर संभवतः उन्हें अपने लक्ष्य की प्राप्ति में अधिक सहायता मिलेगी। अब वे कांग्रेस को केवल रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा अपने प्रमुख ध्येय (अध्यात्म-प्रधान भारतीयता) की प्राप्ति में लगाना चाहते थे। मृत्यु से पूर्व उन्होंने कांग्रेस का जो विधान बनाया उससे यह पूर्णतया

स्पष्ट है। कई बार तो उन्होंने यहां तक कहा कि कांग्रेस को अब राजनीतिक क्षेत्र से हटजाना चाहिये, परन्तु उनके अनुयायियों की समझ में, सदा की भांति, यह भी नहीं आया, क्योंकि वे गांधीवाद के उस उच्च लक्ष्य को नहीं मानते थे।

परन्तु, गांधीवाद को अभी तक जो भी सफलता मिली है, वह केवल यह है कि वह एक-स्वरीय संगीत न रहकर आरोह-अवरोह-युक्त बहुस्वरीय संगीत हो रहा है। यद्यपि प्रायः लोग यह बात नहीं समझ पाते, परन्तु गांधी जी सदा से सत्य एवं अहिंसा के सापेक्षिक रूप ही को व्यवहार्य समझते थे। सत्य और अहिंसा के वैदिक काल से ही 'भारतीयता' के अंग होते हुये भी, व्यावहारिक जगत् में इनका सापेक्षिक रूप ही ग्राह्य हुआ है, परन्तु जैसा भगवद्गीता में कहा है, कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में पण्डित जन भी भूल कर सकते हैं। अतः कहां पर सत्य और अहिंसा का क्या रूप होगा इस बात को साधारण जन नहीं समझ सकते। इसलिये उनके सामने सत्य और अहिंसा का 'आत्यंतिक रूप ही रक्खा जाता है और सामयिक हेर-फेर के लिये महाजनो येन गतः स पन्थः' का आदेश कर दिया जाता है। यही बात गांधी जी ने की।

परन्तु, गांधीवाद की सफलता के रहस्य को यदि देखा जाय तो पता चलेगा कि उनके आदर्श में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा पर्याप्त आरोह-अवरोह उत्पन्न किया गया है। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भारतीय प्रश्नों को विश्व के प्रश्नों के

साथ मिलाकर अध्ययन करने तथा विदेशों में 'प्रचार' करवाने पर जोर देकर, जब कि गांधी जी की हृदय-परिवर्तन-पद्धति को सामूहिक उपयोग के लिये अधिक सफल बनाया, तो सुभाषचन्द्र बोस ने आजाद-हिन्द-फौज द्वारा अहिंसा के सापेक्षिक रूप का स्पष्ट प्रदर्शन करके देश के राजनीतिक स्वातंत्र्य को प्राप्त करने में योग दिया। इसी प्रकार यह भी कहना असगत न होगा कि सरदार वल्लभ पटेल भूलाभाई देसाई तथा कन्हैयालाल माणिकलाल जैसे व्यक्तियों ने जहां सच्चे गांधीवादी की भांति सत्य की सापेक्षिकता के मर्म को समझ कर उसकी अभिव्यक्ति को अधिक व्यावहारिक तथा उपयोगी बनाया, वहाँ राजाजी, बादशाह खां, आजाद तथा राजर्षि टंडन ने 'हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य' में सापेक्षिकता के सिद्धान्त को लागू कर देश का उपकार किया। अन्त में साम्यवाद में सापेक्षिकता को अपनाकर समाजवादी दल ने कांग्रेस की छत्रछाया में और बाहर गांधीवाद को जो दिया है उसको नहीं भुलाया जा सकता और न आचार्य, कृपलानी तथा ठक्कर बाबा के प्रयत्नों को भुलाया जा सकता है, जिनके अथक परिश्रम से ही गाँधीवाद का रचनात्मक पक्ष पूर्ण हो सका है। इस तरह विभिन्न स्वरों से उद्भूत संगीत ने एक स्वरीय साम-गान को जन्म दिया है और पाला-पोसा है। गांधीवाद की समाजशास्त्रीय उपयोगिता समझने में यह बात कभी न भूलना चाहिये।

❀ समाप्त ❀